हमारी नाट्य-साधना

[हिन्दी-नाट्य-कला का विकास और इतिहास]

•

लेखक :
राजेन्द्रसिंह गौड़, एम० ए०

•

श्रीराम मेहरा एण्ड को०
माईथान, आगरा

स्वर्गीया माताजी

श्रीमती सुन्दरदेवी

तथा

स्वर्गीय पिताजी

श्री लक्ष्मीसिंह गौड़

की

पुण्य एवं पावन

स्मृति

में

निवेदन

हिन्दी-नाट्य-कला अभी अपने विकास-काल में है। पाश्चात्य नाट्य-कला से उसे जो स्फूर्ति और प्रेरणा मिल रही है।उसपर अभी भारतीय रंग नहीं चढ़ सका है। इस दिशा में आधुनिक नाटककारों का प्रयास हो रहा है, नये-नये प्रयोग हो रहे हैं, नयी-नयी शैलियों का निर्माण हो रहा है, नये-नये विषयों की खोज हो रही है और प्राचीन तथा अर्वाचीन में समन्वय स्थापित किया जा रहा है। इससे यह आशा की जाती है कि निकट भविष्य में हिन्दी-नाट्य-कला अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपने नये वातावरण के अनुकूल स्वतंत्र रूप से अपने अस्तित्व का परिचय देने में समर्थ होगी। जबतक उसका स्पष्ट रूप सामने नहीं आता, जबतक उसकी अपनी कसौटी तैयार नहीं होती, जबतक उसके आदर्शों और उसकी शैलियों का मापदंड स्थिर नहीं होता, जबतक उसकी माँगें पूरी नहीं होतीं और जबतक हिन्दी-रंगमंच का निर्माण नहीं होता, तबतक उसपर लिखी गयी प्रत्येक पुस्तक अधूरी ही समझी जायगी। प्रस्तुत पुस्तक इसका अपवाद नहीं है।

मैं नाटककार नहीं हूँ। नाट्य-कला के गहन गह्वरों में भी मेरी पहुँच नहीं है। इसलिए मैं यह दावा नहीं कर सकता कि इस पुस्तक में जो कुछ है वह सब मौलिक है, सब नया है। बातें वही हैं जो इससे संबंध रखनेवाली अन्य पुस्तकों में देखने को मिलती हैं। उनमें और इसमें भेद केवल इतना ही है कि मैंने उन समस्त विषयों को विद्यार्थियों की सुविधा के अनुसार अभिनव रूप में प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में मैंने नाट्य-कला-संबंधी प्रत्येक बात को स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयत्न किया है और तुलनात्मक दृष्टि से भी उस पर विचार किया है।

पूरी पुस्तक आठ अध्यायों में विभाजित की गयी है और प्रत्येक अध्याय में जो विषय लिया गया है उसपर यथाशक्ति पाश्चात्य और भारतीय दृष्टिकोणों से सरल भाषा में विचार किया गया है। इस प्रकार मैंने हिन्दी-नाट्य-कला के विविध रूपों को विद्यार्थियों तक पहुँचाने की चेष्टा की है। अपनी इस चेष्टा को सफल बनाने के लिए मैंने डा० नगेन्द्र, प्रो० सत्येन्द्र, डा० सोमनाथगुप्त, डा० एस० पी० खत्री, श्री गुलाब राय, श्री व्रजरत्नदास, डा० श्यामसुन्दरदास, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय प्रभृत विद्वानों और कलाकारों की रचनाओं से पूरी सहायता ली है। अतः मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। इस पुस्तक की रचना करते समय लोक-नाट्य की ओर भी मेरा ध्यान गया था, पर उचित सामग्री के अभाव में मैं उसके संबंध में कुछ लिखने का साहस नहीं कर सका। अगले संस्करण में इसपर भी प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा।

मैं अपनी सीमाएँ जानता हूँ। हिन्दी-नाट्य-कला को अपनी इस पुस्तक का प्रधान विषय बनाकर मैंने जो साहस किया है उसका संपूर्ण दायित्व मुझपर है। इसमें मुझसे जो भूलें हुई हैं यदि हमारे पाठक उनके प्रति उदारतापूर्वक मेरा ध्यान आकृष्ट करेंगे तो मैं उनका आभार स्वीकार करूँगा।

२१७, मीरापुर,
इलाहाबाद—३
कार्तिक एकादशी, सं० २०१०

राजेन्द्रसिंह गौड़

विषय-सूची

: १ :

नाटक की मूल प्रवृत्तियाँ और उनका महत्त्व

नाटक की मूल प्रवृत्तियाँ, नाटक का जन्म, साहित्य में नाटक की प्रतिष्ठा, नाटक और रूपक, काव्य में नाटक का स्थान, नाटक और महाकाव्य, नाटक और उपन्यास, नाटक का महत्व। ··· ·····पृष्ठ १–१५

: २ :

संस्कृत-नाटकों का विकास और ह्रास

संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति, संस्कृत-नाटकों की प्राचीनता, संस्कृत-नाटकों पर यूनानी प्रभाव संस्कृत-नाटक का इतिहास, संस्कृत-नाटकों का ह्रास। ···पृष्ठ १६–२८

: ३ :

संस्कृत-नाट्य-कला का शास्त्रीय विवेचन

दृश्य काव्य के उपकरण, दृश्य काव्य के भेद, रूपक के भेद, उपरूपक के भेद, रूपक के तत्त्व—(१) वस्तु, वस्तु में अर्थ-प्रकृति, वस्तु में कार्य की अवस्थाएँ, वस्तु में संधियाँ, वस्तु-विधान, अंक और दृश्य, (२) पात्र, (३) रस, (४) अभिनय, (५) वृत्तियाँ, रूपक के प्रारंभिक अंग, रूपक में पात्रों की भाषा। ························ ··पृष्ठ २६–५५

: ४ :

हिन्दी-नाटकों का इतिहास और विकास

हिन्दी-नाटकों का अभ्युदय, हिन्दी-नाटक-रचना में बाधाएँ, हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास, हिन्दी-नाट्य-कला का विकास। पृष्ठ ५६–८१

: ५ :

हिन्दी नाट्य-कला का शास्त्रीय विवेचन

हिन्दी-नाटक के विषय, नाटकों के भेद, सुखान्त और दुखान्त नाटक, दुखान्त नाटक की आधारभूत प्रवृत्ति, नाटक के तत्त्व, नाटकीय विधान में संकलनत्रय का महत्त्व, नाटकीय विधान में संगीत का महत्त्व, हिन्दी-नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव, प्राचीन और आधुनिक नाटक, नाटक में स्वगत-कथन का प्रयोग, नाटक में रंग-संकेतों का महत्व।··पृष्ठ ८२–१२१

: ६ :

एकांकी की उत्पत्ति और विकास

संस्कृत-एकांकी का जन्म, अँगरेजी-एकांकी का जन्म, हिन्दी-एकांकी का जन्म, एकांकी का महत्त्व, एकांकी की परिभाषा, एकांकी की विशेषताएँ, नाटक और एकांकी, एकांकी और कहानी, एकांकी के मूल तत्त्व, एकांकी के भेद, प्राचीन और नवीन एकांकी, हिन्दी-एकांकी की प्रवृत्तियाँ, एकांकी का भविष्य।··························पृष्ठ १२२–१८३

: ७ :

नाट्य-साहित्य में प्रहसन का स्थान

नाटक में हास के रूप, प्रहसन का स्वरूप, प्रहसन का प्रयोजन, प्रहसन की पृष्ठभूमि, प्रहसन के विषय, प्रहसन में हास्य के सिद्धान्त, प्रहसन में हास्य के आलंबन, प्रहसन में हास की शैलियाँ, प्रहसन के भेद, प्रहसन की प्रगति, साहित्य में प्रहसन का स्थान।······पृष्ठ १८४–२१४

: ८ :

रंगमंच और रंगमंचीय नाटक

रंगमंच और नाटक का संबंध, रंगमंच की उत्पत्ति, संस्कृत-रंगमंच की रूप-रेखा, जन-रंगमंच का विकास, जन-रंगमंचीय नाटक, हिन्दी-रंगमंच की स्थापना, रंगमंच और चित्रपट।··········पृष्ठ २१५–२३८

हिन्दी-नाट्य-कला का विकास

: १ :

नाटक की मूल प्रवृत्तियाँ और उनका महत्त्व

नाटक की मूल प्रवृत्तियाँ

मानव अनुकरण-प्रिय प्राणी है। बचपन से वह अनुकरण द्वारा ही बोलना, उठना-बैठना, चलना-फिरना और अन्य उपयोगी बातें सीखता है। अपनी मातृ-भाषा का ज्ञान भी उसे अनुकरण-द्वारा ही प्राप्त होता है। अनुकरण-द्वारा ही वह हँसना, बात-चीत करना, शुद्ध भाषा का प्रयोग करना तथा शिष्टाचार-संबंधी अन्य बातें सीखता है। इतना ही नहीं, कभी वह मूँछें लगाकर पिता बनता है, कभी हाथ में छड़ी लेकर अध्यापक होने का अभिनय करता है, कभी अपने बड़ों की वेश-भूषा और पहनावे का अनुकरण कर हास्यमय वातावरण की सृष्टि करता है, कभी लकड़ी के डंडे को घोड़े का रूप देकर उसे सरपट दौड़ाता है और कभी स्वयं इंजिन बनकर और अपने समवयस्क बालकों की ट्रेन बनाकर भक-भक करता चलता है। बालिकाएँ भी प्रायः गुड्डे-गुड़ियों के विवाह-द्वारा अपने भावी दाम्पत्य-जीवन का काल्पनिक सुख अनुभव करती हैं। बचपन के इन खेलों में अनुकरण की प्रवृत्ति को कल्पना से बहुत बल मिलता है। कल्पना मानव की अनुकरण-प्रवृत्ति को अनुप्राणित करती है और अनुकरण-प्रवृत्ति सुप्त शक्तियों को जागरित कर देती है। इस प्रकार मानव स्वयं अपनी अनुकरण-प्रवृत्ति द्वारा अपनी शक्तियों का विकास और अपने अभावों की पूर्ति करता है। यहीं मानव पशु से ऊपर उठ जाता है।

मानव पशु से एक बात में और भी श्रेष्ठ है। वह आत्म-विकास-प्रिय प्राणी है। उसमें कुछ है, कुछ नहीं है। जो नहीं है, उसी की पूर्ति करना;

पूर्ण मानव बनना, उसके जीवन का ध्येय है, यही उसका परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की सिद्धि में अनुकरण उसकी सहायता करता है। अनुकरण आत्म-विकास का सहायक है, साधन है। अपने जन्म से मृत्यु तक अनुकरण-द्वारा वह जितने प्रकार के सांसारिक अनुभव प्राप्त करता है उन्हें वह अपने में पचाकर, अपने हाड़-मांस और रक्त का अंग बनाकर संसार के समक्ष नये रूप और नये रंग में प्रस्तुत करता है। इससे उसकी संकुचित सीमाएँ विकसित हो जाती हैं। यही उसके आनन्द का कारण है। इसी आनन्द-प्राप्ति के लिए वह सतत् प्रयत्नशील रहता है। अपने इस प्रयत्न में वह अपने आनन्द को अपने तक ही सीमित नहीं रखता। आनन्द बटोरना ही नहीं, आनन्द बिखेरना भी उसका एक उद्देश्य है। वह स्वयं आनन्दित होकर दूसरों को भी अपने आनंद से लाभ उठाने का अवसर देता है। इस प्रकार आनन्द के पारस्परिक आदान-प्रदान से उसमें एक नई शक्ति, एक नई प्रवृत्ति—आत्माभिव्यक्ति—का अभ्युदय होता है। आत्माभिव्यक्ति द्वारा वह अपने विचार और अनुभव ही नहीं, दूसरों के विचारों और अनुभवों का भी प्रसार करता है। मानव की यही शक्ति साहित्य को जन्म देती है। साहित्य मानव की आत्माभिव्यक्ति का परिणाम है। हमारे काव्य, हमारे उपन्यास, हमारे नाटक—सबके सब लेखक की आत्माभिव्यक्ति नहीं तो और क्या हैं! आत्माभिव्यक्ति अपूर्ण मानव को पूर्ण बनाती है। अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट करने और दूसरों के विचारों को स्वयं ग्रहण करने में उसकी अपूर्णता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार आत्मविकास से अनुकरण और अनुकरण से आत्माभिव्यक्ति को जो प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है वही साहित्य को जन्म देती है और जब उसमें अनुकरण को प्रधानता मिलती है तब नाटक का प्रादुर्भाव होता है। नाटक की मूल प्रवृत्ति है आत्म-विकास और आत्म-विकास का मुख्य साधन है अनुकरण। अनुकरण होता है वेश-भूषा का, स्वर और लहजे का, चाल-ढाल का। यह अनुकरण जितना ही वास्तविक

और प्रकृत होता है, नाटक उतना ही सफल, लोक-प्रिय, प्रभावशाली और कलापूर्ण होता है।

नाटक का जन्म

नाटक की जिन मूल प्रवृत्तियों का अभी उल्लेख किया गया है उन्होंने मानव-हृदय और मस्तिष्क को नाटक-रचना की ओर कब और कैसे प्रेरित किया—यह ईश्वर की सत्ता की भाँति ही रहस्यपूर्ण है। वास्तव में नाटक उतना ही प्राचीन है जितना मानव-जीवन। मानव की उत्पत्ति के साथ ही नाटक का जन्म हुआ है। विकासवाद के सिद्धांत के अनुसार आज का सभ्य मानव आरम्भ में वनमानुस रहा होगा। उस समय उसकी मुख्य आवश्यकता रही होगी क्षुधा-शान्ति। क्षुधा-शांति के पश्चात् जीवन की रक्षा का प्रश्न भी उसके सामने आया होगा और जब उसे अपनी इन शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधाएँ मिली होंगी तब उसने एकाकी जीवन त्यागकर सामूहिक रूप से जीवन व्यतीत करने और उन बाधाओं पर विजय पाने की चेष्टा की होगी। अपनी इस चेष्टा में वह कभी पराजित हुआ होगा और कभी विजयी। पराजित होने पर उसने प्रकृति की अपार शक्ति की पूजा की होगी और विजयी होने पर अपने उल्लास की अभिव्यक्ति। धीरे-धीरे मनोविकारों के अभ्युदय और सभ्यता के विकास के साथ-साथ उसने प्रणय का—दाम्पत्य प्रेम का—भी आनन्द लूटा होगा। सम्भव है, सर्वप्रथम प्रेमानुभूति ने ही उसे नृत्य करने के लिए विवश किया हो और उसी अवसर पर उसकी स्वर-लहरी ने संगीत का रूप धारण कर लिया हो। जो भी हो, किसी ने उसे देखा नहीं, किसी ने उसे समझा नहीं। आज हम अनुमान और कल्पना के सहारे इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि उन वनमानुसों ने अपनी क्षुधा शान्त करने, अपनी जीवन-रक्षा करने, अपनी प्रणय-लिप्सा को तृप्त करने तथा प्रकृति की अपार शक्ति की पूजा एवं अर्चना करने के लिए जो भी प्रयत्न किये होंगे और उन प्रयत्नों

के फलस्वरूप उन्हें जो भी अनुभूतियाँ प्राप्त हुई होंगी उन्हीं के आधार पर नाट्यकला का जन्म हुआ है।

नाट्यकला मानव की प्राचीनतम् धरोहर है। इसने मानव-जीवन के इतिहास को सुरक्षित रखा है। हमारे आज के साहित्य में नाटक का जो रूप हमें दिखाई देता है वह रूप उस समय उसका न रहा होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं, पर जिन मूल प्रवृत्तियों ने उस अंधकारपूर्ण युग में नाटक को जन्म दिया वे अब भी हैं और सृष्टि के अन्त तक बनी रहेंगी। आज के सभ्य युग में नाटक-रचना की जो प्रेरणा मिल रही है और भविष्य में इस दिशा में जो भी प्रेरणा मिलेगी उसके मूल में भी वही प्रवृत्तियाँ इसी प्रकार कार्य करती हुई दीख पड़ेंगी।

साहित्य में नाटक की प्रतिष्ठा

यह है नाटक के जन्म की काल्पनिक कथा। हम इस कथा को सत्य मानें अथवा न मानें, हम इस पर विश्वास करें अथवा न करें—एक बात तो हमें माननी ही होगी और वह यह कि जो सामाजिक अथवा मानसिक प्रवृत्तियाँ नाटक को जन्म देती हैं उनके कारण साहित्य में उसका महत्त्व अत्यधिक हो जाता है। अब हमें यह देखना है कि उसे यह महत्त्व कब और किस स्थिति में प्राप्त होता है।

हम अभी बता चुके हैं कि अनुकरण-मात्र से नाटक का जन्म होता है। नाटक अभिनय की अपेक्षा रखता है। जबतक अनुकरण अभिनय का रूप धारण नहीं करता तबतक वास्तविक अर्थों में उसे नाटक अथवा रूपक की संज्ञा नहीं दी जा सकती। नाटक में अभिनय का होना अनिवार्य है। अभिनय का अर्थ है—शारीरिक चेष्टाओं-द्वारा हृदय के भावों का प्रकाशन। साहित्य में ऐसी समस्त चेष्टाओं का मूल्यांकन तभी होता है जब वे तत्संबंधी नियमों के साँचे में ढल जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्यिक अनुशासन के अन्तर्गत आने से ही रूपक अथवा नाटक को साहित्यिक रूप प्राप्त होता है और हम उसे नाट्य-साहित्य कहते हैं।

नाट्य-साहित्य सभ्यता और संस्कृति की उच्चता का द्योतक है। जो जाति जितनी सभ्य और सुसंस्कृत होती है, उसका नाट्य-साहित्य उतना ही उच्च कोटि का होता है। यही कारण है कि यह विश्व की सभी जातियों और सभी देशों में नहीं पाया जाता। कुछ जातियों में रूपकों का प्रचार तो है, पर उन्हें साहित्यिक रूप नहीं मिला है। ऐसी जातियाँ असभ्य ही समझी जाती हैं। अर्द्ध सभ्य जातियों में भी बहुत सी ऐसी हैं जिन्होंने वास्तविक अर्थों में तो नाट्य-साहित्य का विकास नहीं किया है, पर रूपकों के संगीत, नृत्य, भावभंगी, वेश-भूषा आदि भिन्न-भिन्न आवश्यक और उपयोगी अंगों में अपनी रुचि-विशेष के अनुसार परिवर्तन और परिवर्धन करके उसके अनेक भेदों और उप-भेदों की सृष्टि की है। सभ्य जातियों ने नाट्य को शास्त्रीय अथवा साहित्यिक रूप अवश्य दिया है, पर जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उसे भी उनकी सभ्यता एवं संस्कृति के अनुसार उन्नत रूप मिला है। नाटक, वास्तव में, उसी समय साहित्य की श्रेणी में आता है जब उसमें अभिनय के साथ ही कथोपकथन का आयोजन होता है। कथोपकथन जितना संयत, जितना शिष्ट, जितना विचारपूर्ण और गंभीर होता है, नाटक उतना ही साहित्य तथा तत्संबंधी जाति की मर्यादा और गौरव बढ़ाता है। नाटक हमारी संस्कृति और सभ्यता का रक्षक है। उससे हमारे प्राचीन और भूत—दोनों की रक्षा होती है और उसी से भविष्य को भी प्रेरणा मिलती है। विदेशों में आर्य जाति और उसके संस्कृत साहित्य को जो सम्मान मिला है उसमें अभिज्ञान शाकुंतल का भी हाथ है।

नाटक और रूपक

अब यह प्रश्न उठता है कि नाटक है क्या? व्युत्पत्ति की दृष्टि से नाटक संस्कृति की नट् धातु से बना है। नट् का अर्थ है—सात्विक भावों का प्रदर्शन। प्राचीन समय में सात्विक भावों का प्रदर्शन करनेवाला व्यक्ति नट कहलाता था। इस प्रकार जिस साहित्य का संबंध

नट से होता था उसे नाटक कहते थे! नाटक का अभिनय अथवा किसी भी अवस्था का अनुकरण नाट्य कहलाता था। नाट्य में रस की प्रधानता होती थी। उसमें भावों के अभिनय के साथ-साथ कथोपकथन भी रहता था। उस समय यह रूपक का एक भेद था, पर आगे चलकर यही रूपक का पर्याय हो गया। रूपक में अभिनय करनेवाला किसी दूसरे व्यक्ति का रूप धारण करके उसके अनुसार हाव-भाव करता और बोलता था। यह कार्य वह इतनी उत्तमता से करता था कि उसमें और वास्तविक व्यक्ति में प्रत्यक्षतः कोई अन्तर नहीं रह जाता था। इससे यह स्पष्ट है कि रूपक में अनुकरण की प्रवृत्ति को नाट्य का रूप धारण करना परमावश्यक है। केवल अनुकरण न तो नाटक ही है और न रूपक ही। वह एकमात्र बालकों का खेल है। इस प्रकार नाटक और रूपक में कोई मौलिक भेद नहीं है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में रूपक का प्रचलन था, आज हम उसी अर्थ में नाटक का प्रयोग करते हैं।

काव्य में नाटक का स्थान

हम अन्यत्र कह आये हैं कि रूपक में संगीत और काव्य का विधान होता है। ऐसी दशा में प्राचीन संस्कृत-आचार्यों ने उसे काव्य के अन्तर्गत माना है। उनके अनुसार काव्य के दो भेद होते हैं—एक दृश्य, दूसरा श्रव्य। श्रव्य काव्य पढ़े भी जा सकते हैं और सुने भी जा सकते हैं। उनके द्वारा पाठकों अथवा श्रोताओं के हृदय में शब्दों के पठन अथवा श्रवण द्वारा रस-संचार होता है। दृश्य काव्य में शब्दों के अतिरिक्त पात्रों की वेश-भूषा, उनकी आकृति तथा उनके अभिनय से दर्शकों को भाव-मग्न होना पड़ता है। इस प्रकार दृश्य काव्य प्रत्यक्षानुभव का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। श्रव्य काव्य का अनुभव अप्रत्यक्ष होता है। श्रव्य काव्य में आँखें पढ़ती हैं, दृश्य काव्य में आँखें देखती हैं। श्रव्य काव्य में शब्दों-द्वारा कल्पना की सहायता से मानसिक चित्र उतारा जाता है, दृश्य काव्य में कल्पना पर इतना बल नहीं देना पड़ता।

उसमें हमको यही प्रतीत होता है कि हम वास्तविकता को देख रहे हैं। श्रव्य काव्य में अनुभवों आदि का वर्णन शब्दों-द्वारा होता है; दृश्य काव्य में अभिनय-द्वारा। इसीलिए दृश्य काव्य, श्रव्य काव्य की अपेक्षा अधिक और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में सहायक होता है। श्रव्य काव्य में केवल श्रवणेन्द्रिय को आनन्द मिलता है, पर दृश्य काव्य में श्रवणेन्द्रिय के साथ-साथ चक्षुरिन्द्रिय को भी। चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप है, इसलिए दृश्य काव्य को रूपक कहना युक्तिसंगत ही है। ऐसी दशा में दृश्य काव्य रूपक का पर्याय हो जाता है, पर अब जो नाटक लिखे जा रहे हैं उनमें कविता के अभाव के साथ-साथ अभिव्यंजना भी काव्य-मय नहीं होती। इसलिए आधुनिक नाटकों को काव्य के अन्तर्गत स्थान देना उचित नहीं जान पड़ता। आधुनिक नाटक मुख्यतः गद्यमय होते हैं।

नाटक और महाकाव्य

इससे स्पष्ट है कि नाटक और काव्य, साहित्य के दो भिन्न-भिन्न अंग हैं और उनकी रूप-रेखा एवं उनकी अभिव्यंजना-शैली कहीं भी एक-दूसरे से मेल नहीं खाती। पर इतनी विभिन्नता होते हुए भी यह तो मानना ही होगा कि दोनों मानव-जीवन की व्याख्या करते हैं और दोनों का विकास अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में होता है। कथानक की दृष्टि से नाटक की तुलना महाकाव्य से हो सकती है। महाकाव्य का कथानक नाटक के कथानक की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। महाकाव्य के कथानक के गर्भ में अनेक छोटी-छोटी प्रासंगिक कथाओं का समावेश रहता है; नाटक के कथानक में एकमात्र उन्हीं महत्त्वपूर्ण घटनाओं तथा परिस्थितियों को अपनाना पड़ता है जिनके बिना कथा का विकास ही नहीं हो सकता। ऐसी दशा में किसी महाकाव्य के कथानक को बिना काट-छाँट के, नाटक के कथानक के रूप में परिणत करना अत्यन्त कठिन है। महाकाव्य के विषयों की सीमा भी अपेक्षाकृत सीमित है। नाटक इतिहास, पुराण, लोकगाथा, समाज, राजनीति, नीति, मानव-दर्शन, वर्तमान-समस्याएँ—इनमें से किसी से भी अपनी रचना के लिए सामग्री

बटोर सकता है, पर महाकाव्य एकमात्र इतिहास और पुराण से ही अपनी रचना के लिए प्रेरणा ग्रहण करता है। इसीलिए जहाँ महाकाव्य का नायक देवता अथवा महापुरुष होता है वहाँ नाटक का कोई भी प्राणी हो सकता है। इसके अतिरिक्त महाकाव्य के पात्र वास्तविक होते हैं और नाटक के अवास्तविक। ये वास्तविक पात्रों का केवल प्रतिनिधित्व करते हैं।

नाटक और महाकाव्य में रचना की दृष्टि से भी अन्तर है। महाकाव्य में कवि अपने व्यक्तित्व को पाठक के सामने स्पष्ट कर देता है, पर नाटक में लेखक का व्यक्तित्व छिपा रहता है। वह सामने आकर कुछ कहने की अपेक्षा अपने पात्रों-द्वारा ही कहता है। इसलिए वस्तु-तत्व की समानता होने पर भी दोनों की रचना-शैली में अन्तर हो जाता है। बाह्य दृष्टि से यदि देखा जाय तो ज्ञात होगा कि महाकाव्य में सर्गों का विधान होता है और प्रत्येक सर्ग के अन्तर्गत किसी एक घटना का छन्दों में वर्णन होता है। नाटक में अंक होते हैं और प्रत्येक अंक के अन्तर्गत एक या कई दृश्य होते हैं जिनमें से प्रत्येक में मूल कथा से सम्बन्ध रखनेवाली किसी घटना का अभिनयात्मक वर्णन होता है। वर्णन-प्रधान होने के कारण महाकाव्य के अध्ययन से हमें प्रत्येक घटना का अप्रत्यक्ष अनुभव होता है, पर नाटक के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। नाटक अभिनय-प्रधान है। उसके लिए रंग-मंच की आवश्यकता होती है। ऐसी दशा में दर्शक एक ही बैठक में एक निश्चित समय के भीतर किसी नाटक को देखकर उससे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकते हैं। महाकाव्य का आनन्द स्वयं पढ़ने अथवा दूसरों के मुख से सुनने से प्राप्त हो सकता है। उसके लिए समय का प्रतिबन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त नाटक की कला महाकाव्य की कला की अपेक्षा अधिक व्यापक है। नाटक में वास्तु-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, वेश-भूषा, संगीत, नृत्य, भाषण, अभिनय तथा इनसे सम्बन्ध रखनेवाली कई कलाओं की आवश्यकता पड़ती है। महाकाव्य में इनका विशेष

महत्त्व नहीं है। नाटक कला-प्रधान है, महाकाव्य वर्णन तथा भाव-प्रधान। महाकाव्य संस्कृति और सभ्यता का प्रतिबिंब है। किसी महाकाव्य को पढ़कर हम उससे सम्बन्ध रखनेवाली जाति की संस्कृति और सभ्यता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। नाटक में राष्ट्र का गौरव चित्रित होता है। नाटक देखने के समय हमें वही आनन्द मिलता है जो इतिहास का अध्ययन करने अथवा अपना चित्र देखने में। इस प्रकार नाटक का आनन्द आत्मानन्द होता है, महाकाव्य का ब्रह्मानन्द। नाटक अनुकृत-प्रधान है, महाकाव्य रस-प्रधान। बहिर्मुखी होने के कारण नाटक हमारी समस्त इन्द्रियों को, हमारी समस्त चेतनाओं को एक साथ प्रभावित करता है। महाकाव्य अन्तर्मुखी होता है। उसके अध्ययन अथवा श्रवण से हमारी समस्त चेतना एक साथ प्रभावित नहीं होती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक और महाकाव्य दोनों साहित्य के दो भिन्न-भिन्न अंग हैं। हम आरम्भ में बता चुके हैं कि प्राचीन काल के दृश्य काव्य, आधुनिक काल में विज्ञान की उन्नति और नाट्य-कला के विकास के कारण, इतने परिवर्तित हो गये हैं कि उन्हें काव्य के अन्तर्गत रखने में संकोच होता है। सिनेमा और रेडियो के आविष्कार ने तो नाटक की परिभाषा में भी हेर-फेरकर दिया है। नाटक अब दृश्य ही नहीं, श्रव्य भी हो गये हैं। ऐसी दशा में महाकाव्य और नाटक में जो पार्थक्य है, वह बढ़कर इतना अधिक होता जा रहा है कि दोनों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना ही व्यर्थ है।

नाटक और उपन्यास

नाटक और उपन्यास में भी मौलिक अन्तर है। इसमें संदेह नहीं कि दोनों अपने कथानक की सामग्री एक ही क्षेत्र से एकत्र करते हैं, दोनों जीवन का व्याख्यान करते हैं, दोनों में कथा-वस्तु का संगठन प्रायः एक-सा होता है, दोनों घटना-प्रधान होते हैं; दोनों का मूल से सम्बन्ध रहता है, दोनों का आरम्भ, विकास और अन्त भी प्रायः एक-सा होता है, दोनों में व्यक्ति का प्राधान्य रहता है, दोनों

का उद्देश्य चित्तरंजन करना है, दोनों में कथोपकथन और चरित्र-चित्रण की भी समानता रहती है; पर इतना होते हुए भी दोनों एक नहीं हैं। उपन्यास की कथा छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी हो सकती है, पर नाटक में इतनी स्वतन्त्रता नहीं है। नाटक अपने नियमों और सीमाओं से जकड़ा रहता है। उपन्यास अपनेआप में परिपूर्ण होता है, अर्थात् एक उपन्यासकार अपनी परिधि में उन सभी तत्त्वों का समावेश कर देता है जिन्हें वह अपनी कथनीय वस्तु के विकास के लिए उपयुक्त और वांछनीय समझता है। इसके विरुद्ध नाटक अपने आप में अपूर्ण होता है। उसे अपनी पूर्णता के लिए पद-पद पर बाह्य संकेतों की अपेक्षा रहती है। कहने का तात्पर्य यह कि नाटक पूर्ण सफल तभी समझा जाता है जब सफलता-पूर्वक उसका अभिनय किया जा सके। उपन्यास वर्णन-प्रधान होता है, नाटक अभिनय-प्रधान। उपन्यास विशेष कर पढ़ने के लिए और नाटक खेले जाने के लिए लिखे जाते हैं। नाटक का आनन्द एक ही बैठक में लिया जा सकता है; उपन्यास कमरे में ले जाकर आराम के साथ सप्ताह, दो सप्ताह में समाप्त किया जा सकता है। नाटक के लिए नाट्यशाला में जाना पड़ता है और एक निश्चित समय तक ही वहाँ रहना पड़ता है। उपन्यास में साधारण अध्यायों से, जो छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े हो सकते हैं, काम चल जाता है और लेखक अपनी ओर से भी बहुत कुछ कहता तथा समझाता हुआ चरित्र-चित्रण में सहायता पहुँचाता रहता है, पर नाटक में अंकों और दृश्यों का विधान होता है। उसमें लेखक को अपनी ओर से कुछ कहने और समझाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह जो कुछ कहना चाहता है उसे वह पात्रों के माध्यम-द्वारा कहता है। उपन्यासकार की भाँति नाटककार सब बातों की व्याख्या नहीं करता। इसलिए उपन्यास के कथोपकथन, नाटक के कथोपकथन की अपेक्षा लम्बे होते हैं। उपन्यास से अप्रत्यक्ष अनुभव होता है, नाटक से प्रत्यक्ष। उपन्यासकार घटी हुई घटना का वर्णन करता

है, और उसके द्वारा अपना व्यक्तित्व प्रत्यक्ष कर देता है। नाटककार घटी हुई घटना का वर्णन नहीं करता। वह घटना को प्रत्यक्ष में आवृत्ति-कर अपने व्यक्तित्व को, सिनेमा के आपरेटर की भाँति, छिपाये रखता है। यदि उसका व्यक्तित्व कहीं दिखाई पड़ता है तो वह किसी पात्र के रूप में सामने आता है। उपन्यास के पात्र वास्तविक होते हैं। वे अपने निजी रूप में सर्वत्र वर्तमान हैं। नाटक के पात्र दूसरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार के सफल प्रदर्शन के लिए नाटक की रचना में पर्याप्त ज्ञान और कला-कौशल की आवश्यकता पड़ती है; उपन्यास के लिए अपेक्षाकृत कम। उपन्यासकार क्रियाशील नहीं होता, नाटककार क्रिया-शील होता है। उपन्यासकार के लिए सभी कलाओं का ज्ञान अपेक्षित नहीं है, नाटककार को जीवन-संबंधी प्रत्येक कला का ज्ञान होना आवश्यक है।

भाषा की दृष्टि से उपन्यास शिथिल और नाटक चुस्त होना है। समय का बन्धन न रहने के कारण उपन्यास में जहाँ पात्र बातें करते समय बहक जाते हैं और सहसा वाचाल हो उठते हैं, वहाँ नाटक में समय का बन्धन होने के कारण पात्रों को बहकने और वाचाल होने का अवसर नहीं मिलता। ऐसी दशा में उन्हें अपने भावों और विचारों को संक्षेप में, सूत्ररूप में, कहने का अभ्यास-सा हो जाता है। उपन्यास की भाषा गद्यमय होती है और नाटक की गद्यमय और पद्यमय दोनों। नाटक में उपन्यास की अपेक्षा कुछ अधिक कवित्व रहना आवश्यक है। मूलतः नाटक काव्य का ही एक भेद है और उपन्यास गद्य का एक अंग। नाटकों में अवसरानुकूल उपयुक्त और उचित वातावरण का निर्माण करने केलिए संगीत की योजना करनी पड़ती है, पर उपन्यास में ऐसा नहीं होता। नाटक की कला उपन्यास की कला से श्रेष्ठ है। नाटककार कवि, लेखक, संगीताचार्य, अभिनेता और बहु-अनुभवी होता है। उपन्यासकार के लिए इतने प्रकार के अनुभवों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक और उपन्यास की सीमाएँ भिन्न-भिन्न हैं और इस कारण दोनों में मौलिक अन्तर है।

साहित्य के दो प्रमुख अंगों—काव्य और उपन्यास से नाटक की तुलना करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि

नाटक का महत्व

अपनी विशेषताओं के कारण नाटक का महत्त्व अतुलनीय है। नाटक हमारी सुप्त चेतनाओं को सचेत करता है, हमारी अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है, हमारी मृत अभिलाषाओं को जीवित कर उन्हें स्पंदित, अनुप्राणित और तीव्रतर करता है और हमें स्वयं अपना मार्ग बनाकर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता है। पुराण और इतिहास के निर्जीव पृष्ठों को नाटक ही जीवन-दान देता है और अपनी कला से उन्हें वाचाल बनाता है। वह हमारी भावनाओं, हमारी इच्छाओं और हमारी अभिलाषाओं को वास्तविक रूप में चित्रितकर हमें सावधान करता है और हमारा परिष्कार करता है। हमने नाटक देखकर क्रान्ति की है, सामाजिक रूढ़ियों में उलट-फेर किया है, जीवन की रूप-रेखा बदली है। नाटक जन-साहित्य है। उसमें लोक-हित और लोक-रंजन की अत्यधिक क्षमता है। काव्य, उपन्यास, कहानी आदि से जनता का उतना मनोरंजन नहीं होता जितना नाटक से। नाटक जीवन की वास्तविकता को स्पष्ट रूप में अंकित और उसे वास्तविक रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसलिए उसमें अद्भुत प्रभावोत्पादक शक्ति है। नाटक के सामने साहित्य के अन्य अंग अपूर्ण हैं। काव्य, उपन्यास, कहानी आदि, जहाँ हमारी जिज्ञासा को तुष्ट करने में विफल रहते हैं वहाँ नाटक उसे तुष्ट करके उसका नेतृत्व करता है। इसके अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंग एक साथ, एक बैठक में एक निश्चित समय के भीतर इतने भारी जन-समूह को आनन्दमग्न नहीं कर सकते जितने भारी जन-समूह को नाटक अपनी कला-द्वारा रस-प्लावित कर सकता है। नाटक हमारी भावनाओं का, हमारे भूत कालीन गौरव का, हमारे इतिहास और पुराण का, हमारी वर्तमान समस्याओं का दृश्य-रूप है। उसमें हमारी सुरुचि-कुरुचि है, हमारी सफलता-विफलता है, हमारा उत्थान-पतन है, हमारी शुचिता-अशुचि है, हमारे जीवन

की समस्त निधियाँ हैं। हम उसे देखकर अपना सब कुछ जान और पहचान सकते हैं। हम नाटक नहीं देखते, रंगमंच पर हम अपने जीवन की स्पष्ट झाँकियाँ देखते हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से भी नाटक का अत्यधिक महत्त्व है। नाटक लोकतांत्रिक कला है। उसमें कई कलाओं का संविधान है। स्थापत्य, चित्रकला, संगीत, वाद्य, नृत्य, काव्य, इतिहास, समाज-शास्त्र, वेश-भूषा की सजावट, रंग-मंच का शृङ्गार—इन सभी शास्त्रों और कलाओं का समावेश नाटक में होता है। नाट्य-कला के आदि आचार्य भरत मुनि ने नाटक को सभी काव्यों में श्रेष्ठ माना है। उनके अनुसार योग, कर्म, सारे शास्त्र, समस्त शिल्प में से कोई ऐसा नहीं है जिसकी नाटक-रचना में आवश्यकता न पड़ती हो। इसीलिए नाटक को पंचम वेद की संज्ञा से विभूषित किया गया है। वेद भगवान् की वाणी है। नाटक को वेद के समकक्ष रखना उसके महत्त्व को चार चाँद लगाना है। हम वेद की वाणी न भी सुनें, पर नाटक देखने अवश्य जाते हैं।

: २ :

संस्कृत-नाटकों का विकास और ह्रास

संस्कृत-नाटकों की उत्पत्ति

संस्कृत-साहित्य में नाटक का जन्म कब और किस प्रकार हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के अनुसार नाट्य-कला की उत्पत्ति दैवी मानी जाती है। एक पौराणिक कथा के आधार पर यह कहा जाता है कि सत्य युग के पश्चात् त्रेता युग के प्रथम चरण में महेन्द्र आदि देवताओं ने सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा के पास जाकर इस बात के लिए स्तुति की कि वह मनोरंजन के कतिपय ऐसे साधन प्रस्तुत करें जिनसे देवतागण आनन्द लाभ करके अपना दुःख भूल सकें। ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और बहुत सोच-विचार के पश्चात् नाट्य-वेद की रचना की। इस वेद की रचना में उन्होंने ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय-कला और अथर्ववेद से रस लिया। विश्वकर्मा ने रंग-मंच का निर्माण किया, शिव ने ताण्डव और पार्वती ने लास्य-नृत्य की शिक्षा दी और विष्णु भगवान् ने चार नाट्य-शैलियों का निर्माण किया। इस प्रकार दैवी नाट्य-वेद, जिसे पंचम वेद भी कहते हैं, मनुष्यों के मनोरंजनार्थ पृथ्वी पर अवतीर्ण हुआ और भरत मुनि उसके प्रथम आचार्य हुए। उन्हीं के द्वारा सर्वप्रथम पृथ्वी पर नाटक का आविर्भाव हुआ। उन्होंने अपने सौ पुत्रों को नाटक के भिन्न-भिन्न अंगों में शिक्षा देकर उनके द्वारा अभिनय कराया।

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस पौराणिक कथा का ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है, पर इससे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ

में नाटक-रचना की प्रेरणा वेदों से ही प्राप्त हुई है। वेद हमारे प्राचीनतम धर्मग्रंथ हैं। उन्हीं से समस्त भारतीय विद्याओं और कलाओं का विकास हुआ है। ऋग्वेद में इंद्र, अग्नि, सूर्य, उषस्, मरुत् आदि देवताओं की स्तुति के गीत और यमयमी तथा पुरुरवा उर्वशी के कथोपकथन मिलते हैं। साथ ही सामवेद में गान-विद्या की पूर्णता है और अथर्ववेद में वादन-गायन के साथ नृत्य का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट है कि नाटक-रचना के आवश्यक उपकरण बीज रूप से वेदों में विद्यमान हैं और सम्भवतः उन्हीं के आधार पर उस समय बड़े-बड़े यज्ञों के अवसर पर अभिनय हुआ करते थे। इस प्रकार के अभिनय प्रायः देव-पूजा और धार्मिक कृत्य-सम्बन्धी होते थे। ऐसी दशा में भारतीय नाटकों का आरम्भ देव-पूजा और धार्मिक कृत्यों से ही माना जाता है। प्रोफेसर मैक्स म्यूलर, लेवी तथा डा० हर्टेल, आदि विदेशी आचार्यों ने भी इसी मत की पुष्टि की है, पर कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें यह मत स्वीकार नहीं है। उनका कहना है कि भारतीय नाटक का उदय सामाजिक और लौकिक कृत्यों से हुआ है।

मृतक वीरों की पूजा से भारतीय नाटकों का आरम्भ माननेवालों में डा० रिजवे का प्रमुख स्थान है। उनका मत है कि प्रारम्भिक काल में मृत आत्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत, नाटक आदि का आयोजन होता था। इसी प्रकार प्रोफेसर कोनो भारतीय नाटक का उदय लौकिक कृत्यों से मानते हैं। उनका विश्वास है कि समाज में लोक-रंजन के लिए जो गीत, नृत्य आदि होते हैं, उन्हीं से नाटक का जन्म हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में रहस्यमय शक्ति की उपासना के साथ-साथ मृतक वीरों की पूजा भी होती थी और ऋतु-परिवर्तन तथा फसल काटने आदि के अवसरों पर गीत और नृत्य का आयोजन भी होता था, पर नाटक का उदय केवल लौकिक और सामाजिक कृत्यों से मानना सर्वथा अनुचित ही होगा। जिन कल्पनाशील विदेशी विद्वानों ने भारतीय नाटकों का आरम्भ केवल लौकिक और सामाजिक कृत्यों से माना है वे

वास्तव में भारत की आत्मा को नहीं पहचानते। भारत आरम्भ से ही धर्मपरायण देश रहा है। अतः उसके लौकिक, सामाजिक और धार्मिक कृत्यों में कभी भी विशेष अन्तर नहीं रहा। हमारे जितने भी लौकिक और सामाजिक कृत्य हैं वे सब-केन्द्र किसी-न-किसी धार्मिक सिद्धान्त पर आधारित हैं। ऐसी दशा में वे किसी प्रकार भी धर्म से पृथक् नहीं किये जा सकते। अतः डा० रिजवे तथा प्रोफेसर कोनों के सिद्धान्त हमें मान्य नहीं हैं।

भारतीय नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य पिशल का मत भी विचारणीय है। उनका कहना है कि भारतीय नाटकों का उदय कठपुतलियों के नृत्य से हुआ है। वास्तव में यह मत भी डा० रिजवे और प्रोफेसर कोनों के मतों की भाँति भ्रमात्मक है। गुणाढ्य की वृहत्कथा और राजशेखर की बाल-रामायण से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारत में कठपुतलियों तथा अन्य प्रकार की पुतलियों का नृत्य होता था। वृहत्कथा में लिखा है कि मायासुर की कन्या के पास ऐसी कठपुतली थी जो नाचती-गाती थी और हवा में भी उड़ सकती थी। महाभारत में भी कठपुतलियों का उल्लेख है, पर इन कठपुतलियों के नृत्य से नाटक का आरम्भ मानना कहाँ तक उचित है, यही विचारणीय है। इस सम्बन्ध में पिशल महोदय का तर्क 'सूत्रधार' शब्द और स्थापकों को लाने की प्रथा पर अवलम्बित है। उनका कहना है कि कठपुतलियों के नृत्य में जो डोरा पकड़ता था, वही भारतीय नाटक का सूत्रधार बन गया। पर यह तर्क सर्वथा निराधार है। 'सूत्र' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसका साधारण अर्थ है—डोरा। मकान बनाने वाले कारीगरों के पास भी 'सूत्र' होता है, किसी कथा के तारतम्य को भी 'सूत्र' कहते हैं, किसी बात के बढ़ाने को भी 'सूत्र' कहा जा सकता है, व्याकरण और दर्शन आदि शास्त्रों के भी 'सूत्र' होते हैं। इस प्रकार 'सूत्र' के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। प्रसादजी ने 'सूत्र' का लाक्षणिक अर्थ लिया है। उनका कहना है कि 'जिसमें अनेक वस्तुएँ ग्रथित हों और

जो सूक्ष्मता से सब में व्याप्त हो उसे 'सूत्र' कहते हैं और 'सूत्रधार' वह है जो कथावस्तु और नाटकीय प्रयोजन के समस्त उपादानों को ठीक-ठीक सचालित करता हो।' कहने का तात्पर्य यह कि आधुनिक नाटकों के अभिनय-संचालन में डायरेक्टर (निर्देशक) का जो स्थान रहता है वही स्थान प्राचीन काल के नाटकों के अभिनय-संचालन में सूत्रधार का रहता था। ऐसी दशा में 'सूत्रधार' शब्द के आधार पर कठपुतलियों के नृत्य से नाटक का आरम्भ मानना सर्वथा असंगत है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय नाटकों का अभ्युदय न तो पौराणिक आख्यान के अनुसार हुआ है और न लौकिक अथवा सामाजिक कृत्यों द्वारा। जो लोग कठपुतलियों के नृत्य से नाटक का आरंभ स्वीकार करते हैं वे भी भ्रम में हैं और भारतीय धर्म के स्वरूप को पहचानने की चेष्टा नहीं करते। वास्तव मे हमारे सभी प्रकार के कृत्य, चाहे वे लौकिक हों अथवा सामाजिक, धर्म के ही अन्तर्गत आते हैं। प्राचीन काल मे रीति, नृत्य आदि सभी धर्म के अंग माने जाते थे और इनके द्वारा दर्शकों तथा सुननेवालों को जो आनन्द प्राप्त होता था वह भौतिक आनन्द होने पर भी आध्यात्मिक आनन्द माना जाता था। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय नाटकों का उदय वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक अवसरों पर होनेवाले अभिनयात्मक कृत्यों से हुआ। पीछे से रामायण, महाभारत, काव्य और इतिहास-ग्रन्थों से उसे पर्याप्त सामग्री मिली और वह अपने पूर्ण विकसित रूप में आ गया।

संस्कृत-नाटकों की प्राचीनता

अब प्रश्न यह है कि संस्कृत-नाटकों का आरम्भ कब से माना जाय? वेदों मे नाट्य-साहित्य की जो सामग्री प्रचुर मात्रा मे मिलती है वह इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है कि वैदिक काल मे नाटकों की रचना हो चुकी थी। संस्कृत-साहित्य के इतिहास में पाणिनि का समय ईसा-पूर्व लगभग ४०० वर्ष माना जाता है। उन्होंने अपने,

व्याकरण में कृशाश्व और शिलालिन् नाम के नट-सूत्रों का उल्लेख किया है और उनके डेढ़ शताब्दि पश्चात् पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'कंस-वध' और 'बलि-बंधन' की चर्चा की है। वाल्मीकि रामायण से भी नाटक होना सिद्ध होता है। अयोध्याजी के वर्णन-प्रसंग से यह पता चलता है कि उस समय केवल नाटक ही नहीं, वरन् अभिनेताओं के संघ भी बन गये थे। हरिवंश पुराण में भी राम-जन्म और कौबेर-रम्भाभिसार नाम के नाटकों के खेले जाने का सविस्तर वर्णन मिलता है। बौद्ध-धार्मिक ग्रन्थ विनयपिटक के 'चुल्लवग्ग' से नर्तकियों से बात करने और नाटक देखने के अपराध में अश्वजित और पुनर्वसु नाम के दो भिक्षुओं को प्रमाजर्नीय दण्ड मिलने की कथा का पता चलता है। इसी प्रकार ईसा से प्रायः ३०० वर्ष पूर्व जैन-कल्पसूत्रों में भी एक ऐसे जड़वृत्ति साधु का उल्लेख है जो नाटक देखने गया था। भरत मुनि का समय तो अबतक अनिश्चित ही है, पर उनके नाट्य शास्त्र के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका आविर्भाव बौद्ध-काल के बहुत पहले हुआ था। लक्षण-ग्रन्थों की रचना लक्ष्य-ग्रन्थों के पश्चात् ही होती है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि भरत मुनि के पूर्व कई नाटक लिखे जा चुके थे। स्वयं भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में 'अमृत-मंथन' और 'त्रिपुर-दाह' नाम के दो नाटकों के खेले जाने का उल्लेख किया है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हमारे देश में नाटकों का भरपूर प्रचार हो चुका था।

हमने अभी संस्कृत-नाटकों की प्राचीनता के सम्बन्ध में जो मत
निश्चित किया है उससे कतिपय विदेशी विद्वान् सहमत
संस्कृत-नाटकों पर नहीं हैं। उनका कहना है कि संस्कृत नाट्य-साहित्य
यूनानी प्रभाव का विकास यूनानी प्रभाव के अन्तर्गत हुआ है।
अतएव यूनानी नाटकों की अपेक्षा संस्कृत-नाटकों की
प्राचीनता अमान्य है। उनका यह मत कहाँ तक युक्तिसंगत है—यह इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। भारत पर सिकन्दर का

आक्रमण पूर्वेसा सन् ३२६-७ में हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से तभी से भारत और यूनान का संपर्क स्थापित हुआ, पर इस संपर्क का हमारे साहित्य और कला पर यथेष्ट प्रभाव नहीं पड़ा। सिकन्दर के पश्चात् भारत में यूनानियों का जो प्रभुत्व शेष रह गया था वह भी उसके लौटते ही समाप्त हो गया। पूर्वेसा सन् १५५ में मिनेंडर (मिलिन्द) की भारत पर चढ़ाई हुई और उसे भी दो वर्ष पश्चात् यहाँ से लौट जाना पड़ा। मौर्य-कालीन नरेशों का मिश्र तथा यूनान के राजवंशों से संबंध अवश्य था, पर इतना नहीं कि साहित्य और कला के क्षेत्र में हम उससे प्रेरणा ग्रहण करते। वास्तव में हमारे लिए यूनानी नाट्य-साहित्य से किसी प्रकार की प्रेरणा ग्रहण करने का वह समय था भी नहीं। मिनेंडर के समय में ही यूनान में नाटक-रचना का ह्रास हो चुका था। ऐसी दशा में संस्कृत-नाटकों पर यूनानी-प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। जो पाश्चात्य आलोचक संस्कृत-नाटकों पर यूनानी प्रभाव की घोषणा करते हैं वे भ्रम-वश कालिदास और भास आदि को ईसवी चौथी शताब्दि के आस-पास का बताकर अपने मत की पुष्टि करते हैं। पर आधुनिक खोजों से यह बात कपोल-कल्पित सिद्ध हो चुकी है। कालिदास का समय ईसा-पूर्व पहली शताब्दि के लगभग माना जाता है।

संस्कृत-नाटकों पर यूनानी नाट्य-साहित्य का प्रभाव आँकने के लिए हमें यूनानी नाट्य-साहित्य की रूप-रेखा पर भी विचार करना चाहिए। यूनानी नाट्य-साहित्य के अनुसार भी नाटक का आरम्भ देव-पूजा से माना जाता है। यूनान में डायोनिसियस देवता के उत्सवों के अवसर पर वर्षारंभ के समय खुले हुए रंगशाला में वीर-गाथा तथा धार्मिक दंत-कथा पर आधारित अभिनय हुआ करते थे। इन अभिनयों में नट-गण ऊँचे जूते पहनकर तथा बड़े-बड़े चेहरे लगाकर अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। इस प्रकार की प्राचीनतम् प्राप्त रचना, जिसे ट्रोलॉजी कहते थे, ईसार्चेलस का पर्सी है जो पूर्वेसा सन् ४७२ ई० में पुरस्कृत हुई थी। यह दुःखांत रचना थी। यूरोपिडीज, सोफोक्लस आदि भी

अपनी-अपनी दुःखान्त रचनाओं के कारण प्रसिद्ध नाटककार थे। यूरोपिडीज का समकालीन था उसका प्रतिद्वन्द्वी एरिस्टोफेंस। वह सुखांत रचना का प्रबल समर्थक था। उसके आविर्भाव से दुःखान्त नाटकों का पतन हो गया और उनके स्थान पर सुखान्त नाटकों का उदय हुआ। कालांतर में यह कला यूनान से रोम में गयी और वहाँ भी इसका अच्छा विकास हुआ; परन्तु पूर्वेश तृतीय शताब्दि के पश्चात् कार्निवल के खेलों का प्रादुर्भाव होने पर वहाँ भी नाट्य-कला का पतन हो गया। इसके बाद ही ईसाई-धर्म का प्रचार हुआ। इस धर्म के अनुयायी नाट्य-कला के परम विरोधी थे। ऐसी दशा में नाटक-रचना का कार्य प्रायः समाप्त-सा हो गया। मध्यकाल में पोपों का अधिकार स्थापित होने पर डेढ़ सहस्र वर्ष पश्चात् पुनः नाटक-रचना को प्रोत्साहन मिला। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय नाट्य-कला यूनानी नाट्य-कला की अपेक्षा अत्यंत प्राचीन है।

वस्तु-तत्त्व की दृष्टि से भी संस्कृत-नाटक यूनानी नाटकों से प्रभावित नहीं जान पड़ते। भारतीय नाटकों की सामग्री पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता की स्पष्ट छाप है और उसका रामायण तथा महाभारत से सीधा संबंध है। यूनान के नाटकों का वातावरण ही दूसरा है। वहाँ के नाटकों के कथानकों में जीवन-निर्माण की कला का सर्वथा अभाव है। मानव-जीवन कैसा होना चाहिए—इस बात की शिक्षा हमें यूनानी नाटकों से नहीं, वरन् भारतीय नाटकों से मिलती है। यूनानी नाटक चरित्र-प्रधान होते हैं, भारतीय नाटक प्रकृति और रस-प्रधान भारतीय नाटकों के कथानक सुखान्त होते हैं। दुःखान्त नाटक जीवन को छिन्न-भिन्न करके उसमें निराशा की उद्भावना करते हैं। इस प्रकार यूनानी नाटक भारतीय नाटकों से बहुत दूर हो जाते हैं। भारतीय नाटक आदर्शवादी हैं, यूनानी यथार्थवादी।

आकार की दृष्टि से भी यूनानी नाटक भारतीय नाटकों से भिन्न हैं। भारतीय नाटक अंकों में विभाजित होते हैं, यूनानी नाटकों में अंकों का विभाजन नहीं होता। उनमें दो दृश्यों में अन्तर लाने के लिए

सम्मिलित-गान 'कोरस'—का आयोजन होता था। भारतीय और यूनानी रंगशालाओं में भी अन्तर था। यूनानी रंगशालाएँ खुली हुई होती थीं। उनमें पट आदि की व्यवस्था नहीं थी। भारतीय रंगशालाएँ कलापूर्ण और अत्यन्त सुव्यवस्थित होती थीं। इसी प्रकार अन्य बातों में भी दोनों एक-दूसरे से भिन्न थे। 'यवनिका' शब्द को लेकर कुछ लोगों ने संस्कृत-नाटकों पर यूनानी प्रभाव दिखाने की चेष्टा की है, पर वह भी निराधार है। वास्तव में 'यवनिका' का शुद्ध रूप 'जवनिका' है और यही प्राचीन नाटक-ग्रन्थों में प्रचलित है। ऐसा लगता है कि यूनानी प्रभाव को सिद्ध करने के लिए कतिपय विदेशी विद्वानों ने 'जवनिका' को 'यवनिका' का रूप देकर यह कहना आरंभ कर दिया कि भारतीय नाटकों पर यवन अर्थात् यूनान देश के नाटकों का प्रभाव है। कुछ का यह भी मत है कि प्रधान पर्दा यवन (यूनान) देश से आये हुए कपड़े से बनता था, इसलिए उसे 'यवनिका' कहते थे, पर 'जवनिका' शब्द का आविष्कार होने से अब इन मतों का कोई महत्त्व नहीं है। 'जव' का अर्थ है 'वेग'। इस प्रकार 'जवनिका' उस पट को कहेंगे जो आसानी से उठाया और गिराया जा सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय नाटक अपने वातावरण, अपनी परंपरा, अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के अनुकूल उत्पन्न और विकसित हुए हैं। उन पर किसी की छाप नहीं है। वे अपने में परिपूर्ण और मौलिक हैं। उनका अपना दृष्टिकोण है, उनकी अपनी सूझ-बूझ है, उनकी अपनी कला, उनके अपने नियम और अपने सिद्धान्त हैं।

संस्कृत-नाटकों का इतिहास

संस्कृत-नाट्य-साहित्य के संबंध में हमने अबतक जो कुछ कहा है उससे उसकी प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। वेदों में उसका मूल है, इसकी चर्चा हम कर चुके हैं। हम यह भी बता चुके हैं कि रामायण, महाभारत तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों में हमें नाट्य-साहित्य-संबंधी जो साक्षियाँ मिलती हैं उनसे भी उसकी प्राचीनता सिद्ध होती

है और उसका इतिहास बहुत-कुछ स्पष्ट हो जाता है। फिर भी उसका क्रमबद्ध इतिहास हमें नहीं मिलता। बाह्य आक्रमणों के फलस्वरूप उसके भाण्डार का अधिकांश इतना नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है कि हम प्रमाणिक रूप से उसके संबंध में कुछ भी नहीं कह सकते। इस समय हमारे पास जो कुछ है और इस संबंध में विदेशी विद्वानों द्वारा जो सामग्री मिली है उससे संस्कृत नाट्य-साहित्य के इतिहास का सूत्र कालिदास के समय से मिलता है। कालिदास का समय भी संदिग्ध है। डा० ईश्वरी-प्रसाद के मतानुसार उनका होना गुप्त काल में सिद्ध होता है, पर यह सर्वमान्य नहीं है। गुप्तकालीन चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समय ३७५-४१३ ई० है। निस्संदेह कालिदास का यह समय नहीं हो सकता। ऐसी दशा में उनकी संपूर्ण रचनाओं को ही प्रमाण मानकर आगे बढ़ना होगा। उनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि वह महाकवि होने के साथ-साथ नाटक-कार भी थे। उन्होंने ऋतु-संहार, रघुवंश, कुमारसंभव और मेघदूत नाम के तीन महाकाव्यों तथा अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र नाम के तीन नाटकों की रचना की। इन रचनाओं का संस्कृत साहित्य में सर्वोच्च स्थान है। अभिज्ञान शाकुंतल का तो कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है।

कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों में भास, सौमिल और कविपुत्र का उल्लेख किया है, पर इनमें से किसी के संबंध में हम निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। भास के तेरह प्रमाणिक नाट्य ग्रन्थों का पता अवश्य चला है और सन् १६१२-१५ में पं० गणपति शास्त्री द्वारा उनका संपादन भी हो चुका है, पर उनका समय भी संदिग्ध ही है। उनकी समस्त रचनाओं में से पंचरात्र, स्वप्नवासवदत्ता, चारुदत्त, प्रतिमा और अभिषेक के हिन्दी-अनुवाद भी हो चुके हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वह अपने समय के उच्च कोटि के कला-कार थे। उन्होंने कई प्रकार के रूपक और उपरूपक भी लिखे थे।

कलिदास के परवर्ती नाटककारों में अश्वघोष का नाम आता है।

अश्वघोष कुषाणवंशीय राजा कनिष्क के समय में हुए थे। डा० ईश्वरीप्रसाद के अनुसार कनिष्क का समय सन् १२८ ई० माना जाता है, पर कुछ विद्वान् सन् ७८ भी बताते हैं। जो भी हो, इसमें तो सन्देह ही नहीं किया जा सकता कि वह अपने समय के अप्रतिम कलाकार थे। उनकी रचनाएँ बौद्ध-धर्म-संबंधी होती थीं। नाटक-रचना की दृष्टि से बौद्ध तथा जैन-काल उपयुक्त नहीं थे। इसीलिए इन दोनों कालों में किसी प्रसिद्ध नाटककार का नाम नहीं मिलता। गुप्त-साम्राज्य का उदय होने पर संस्कृति-साहित्य को पुनः प्रेरणा मिली और उस समय कई नाटक भी लिखे गये। तत्कालीन साहित्य के इतिहास से पता चलता है कि शूद्रक और विशाखदत्त उस समय के प्रसिद्ध नाटककार थे। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' और विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' अपने समय की अप्रतिम रचनाएँ हैं। इन दोनों रचनाओं में राजनीतिक षड्यंत्र और प्रेम-कथा के सुन्दर समन्वय में ही उनके कथानकों का विकास हुआ है।

संस्कृत-नाट्य-साहित्य में श्री हर्ष का नाम भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीय इतिहास में उनका समय ६०६ ई० से ६४७ ई० तक माना जाता है। वह कन्नौज के राजा थे। उनके दरबार में उस समय के सुप्रसिद्ध विद्वान् बाण भट्ट रहते थे। हर्ष स्वयं विद्वान् थे। नाटक-रचना में उनका अच्छा अभ्यास था। उन्होंने दो नाटिकाओं—'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' तथा एक नाटक 'नागानन्द' की रचना की थी। वह गद्य और पद्य, दोनों आसानी से लिख सकते थे। उन्हीं के सम-कालीन महेन्द्रविक्रम भी नाटककार थे। वह पल्लव-नरेश सिंहविष्णु वर्मा का पुत्र थे। आठवीं शताब्दि में संस्कृति के प्रसिद्ध कवि भवभूति का उल्लेख मिलता है। उनका वास्तविक नाम श्रीकंठ था। वह वेद, उपनिषद्, सांख्य और योग के अच्छे ज्ञाता थे। उनके लिखे हुए तीन नाटक मिलते हैं —महावीर-चरित्र, उत्तर रामचरित्र और मालती-माधव। इन तीनों नाटकों का संस्कृत-साहित्य में अच्छा स्थान है। इनसे पता चलता है कि भवभूति अपने समय के श्रेष्ठ कलाकार थे।

भवभूति के परवर्ती नाटककारों में भट्टनारायण का नाम लिया जाता है। भट्टनारायण ने केवल एक नाटक लिखा है—वेणीसंहार। इसका कथानक महाभारत से लिया गया है। नवीं शताब्दि के लगभग मुरारी कवि का लिखा 'अनर्घराघव' नाटक मिलता है। इनके अतिरिक्त नवम् शताब्दि में राजशेखर ने चार नाटकों की रचना की है जिनके नाम हैं—कर्पूरमंजरी, बालरामायण, बालभारत और विद्धशाल भंजिका। इनमें से कर्पूरमंजरी प्राकृत में होने से सटक है। इसका हिन्दी-अनुवाद भारतेन्दु ने किया है। राजशेखर अपनी नाट्य-रचना में अधिक सफल नहीं हैं। उनके समकालीन नाटककारों में स्वप्न-दशानन, क्षेमीश्वर, दामोदर मिश्र तथा कृष्ण मिश्र अधिक प्रसिद्ध हैं। क्षेमीश्वर ने 'चंड-कौशिक' और 'नैषधानन्द' की रचना की है। अभिनय की दृष्टि से ये दोनों नाटक अनुपयुक्त हैं। चन्ड-कौशिक का हिन्दी-रूपान्तर 'सत्य हरिश्चन्द्र' भारतेन्दु ने किया है। दामोदर मिश्र का 'हनुमन्नाटक' भी इसी काल की रचना है। कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध-चन्द्रोदय' एक भावात्मक नाटक है। इस नाटक के हिन्दी में कई अनुवाद मिलते हैं। संस्कृत में राम और कृष्ण का आश्रय लेकर कई नाटक लिखे गये हैं। इनमें राम-कथा पर आश्रित जयदेव का 'प्रसन्नराघव' और चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूपस्वामी के 'विदग्ध-माधव' तथा 'ललित माधव' बहुत प्रसिद्ध हैं। ये रचनाएँ आज से लगभग ४०० वर्ष पूर्व की मानी जाती हैं। इनके अतिरिक्त और भी नाटक लिखे गये हैं जिनका रचना-काल वि० सं० १७००-१८०० के लगभग माना जाता है। इस काल के नाटककारों में रामवर्मा, सामराज दीक्षित, कुलशेखर, विशालदेव विग्रहराज, सोमनाथ, जयसिंह सूर और वेंकटनाथ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

नाटक के लक्षण-ग्रन्थों में भरतमुनि का 'नाट्य-शास्त्र' प्रधान ग्रन्थ है। अग्नि-पुराण में साहित्य के अन्य अंगों के साथ नाटक का विवेचन किया गया है। धनंजय के 'दश रूपक' का भी नाटक के लक्षण-

ग्रन्थों में बड़ा मान है। साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ कवि ने भी साहित्य-दर्पण के छठे परिच्छेद में नाटक के तत्त्वों की विशद् विवेचना की है। इन प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी कई ग्रन्थ ऐसे हैं जो संस्कृत में अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण प्रसिद्ध हैं, पर उनमें मौलिकता का अभाव है।

संस्कृत नाटकों का ह्रास

हमने अभी संस्कृत नाट्य-साहित्य के इतिहास की संक्षेप में जो रूप-रेखा अंकित की है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दसवीं शताब्दि से उसका ह्रास आरम्भ हो गया था। दसवीं शताब्दि भारतीय इतिहास में परिवर्तन-काल माना जाता है। इस समय उत्तर-पश्चिम से भारत पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे और सर्वत्र उन्हें विजय प्राप्त हो रही थी। ऐसी दशा में राज्यों की सीमाएँ बदल रही थीं, एक राज्य के स्थ न पर दूसरे राज्य की स्थापना हो रही थी, एक सभ्यता और संस्कृति पर दूसरी सभ्यता और संस्कृति अपना सिक्का जमा रही थी। ऐसे अशान्त वातावरण में साहित्य-निर्माण के लिए कोई अवसर नहीं था। इसके अतिरिक्त बड़े राज-दरबारों में ही कवि और नाटककार आश्रय पाते थे और स्वतन्त्र रूप से साहित्य का निर्माण करते थे। हिन्दू-राज्यों के नष्ट हो जाने से यह सुविधा भी जाती रही। इसलाम-धर्म संगीत और नाट्य-कला विरोधी था। इसलिए इसलामी राज्यों की स्थापना होने पर भी उनके अन्तर्गत नाट्य-कला को प्रोत्साहन नहीं मिला। कालान्तर में मनोरंजन के साधनों में भी परिवर्तन हो गया। रंगशालाएँ उजड़ गयीं और उनका स्थान अन्य प्रकार के मनोरंजनों ने ले लिया। सच पूछिए तो उस समय धार्मिक पक्षपात, राजनीतिक उथल-पुथल और सामाजिक दुर्व्यवस्था इतनी बढ़ गयी थी कि भारतीय जनता अपने जीवन से ही निराश होती जा रही थी। उसे अपनी जान के लाले पड़े हुए थे। इन परिस्थितियों में नाटकों का ह्रास होना अवश्यंभावी ही था।

नाटकों के ह्रास का एक और कारण था। भाषा की दृष्टि से यदि देखा जाय तो पता चलेगा कि गुप्त-साम्राज्य के पतन के पश्चात् संस्कृत की लोक-प्रियता नष्ट हो गयी थी और उसके स्थान पर सर्वसाधारण की भाषा ने अपना रंग जमा लिया था। इस प्रकार धीरे-धीरे सर्वसाधारण की भाषा साहित्यिक भाषा हो गयी और संस्कृत केवल विद्वानों तक ही सीमित रह गयी। मुसलमानों के आक्रमण से उसकी शिक्षा का क्रम भी टूट गया और हिन्दू-राज्यों से उसे प्रोत्साहन मिलना बन्द हो गया। ऐसी दशा में जनता उसकी ओर से उदासीन हो गयी। इस प्रकार जब भाषा का महत्त्व ही नष्ट हो गया तब उसमें रचना हो ही कैसे सकती थी! संस्कृत में नाटक का ही नहीं, काव्य आदि के ह्रास का भी यही कारण है। दसवीं शताब्दि के पश्चात् हमें संस्कृत के जो नाटक मिलते हैं उनमें से अधिकांश भाषा और कला की दृष्टि से निम्नकोटि के हैं। नाट्य-साहित्य में उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है।

: २ :

संस्कृत नाट्य-कला का शास्त्रीय विवेचन

हम पहले बता चुके हैं कि प्राचीन संस्कृत-आचार्यों ने साहित्य के अन्तर्गत काव्य के दो भेद किये हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। हम यह भी बता चुके हैं कि दृश्य काव्य अभिनय-प्रधान होता है। अभिनय-प्रधान होने के कारण यह श्रवणेंद्रिय के साथ-साथ चक्षुरिंद्रिय को भी प्रभावित करता है। चक्षुरिंद्रिय का विषय है 'रूप'। दृश्य काव्य में दर्शक रंगमंच से 'रूप' का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव पात्रों अथवा अवस्था की अनुकृति से होता है। इसी अनुकृति में 'दृष्टि-रोचन' के लिए पात्रों का रूप रखा जाता है और इसीलिए दृश्य काव्य की 'रूपक' संज्ञा है। पर केवल अनुकृति अथवा अभिनय से ही रूपक का संपूर्ण रूप उपस्थित नहीं होता। उसका दर्शकों की दृष्टि में वास्तविक होना भी आवश्यक है। कहने का तात्पर्य यह कि जबतक अनुकार्य और अनुकर्ता की एकता प्रदर्शित नहीं होती और दर्शक उसे वास्तविक नहीं समझता तबतक अभिनय सफल नहीं समझा जाता। अभिनय की सफलता के लिए दर्शक के हृदय में यह प्रतीति होना आवश्यक है कि जो कुछ उसकी आखों के सामने हो रहा है वह वास्तविक है, कृत्रिम नहीं। दर्शक के हृदय में इसी प्रतीति के साथ दृश्य काव्य के तीसरे उपकरण-रस-का उद्रेक होता है। बिना 'रस' की निष्पत्ति के दृश्य काव्य का वास्तविक रूप सामने नहीं आता।

दृश्य काव्य के उपकरण

संस्कृत नाटकाचार्यों के अनुसार दृश्य काव्य के अन्य उपकरणों में नृत्य और नृत को भी स्थान दिया है। नृत्य और नृत के सम्बन्ध में

हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ इतना ही कहना अलम् होगा कि जब इन दोनों के साथ गीत और कथोपकथन का सामंजस्य हो जाता है तब दृश्य काव्य का संपूर्ण रूप सामने आ जाता है। इस प्रकार दृश्य काव्य के सात उपकरण हुए—(१) अभिनय (२) वास्तविकता की प्रतीति (३) रस का उद्रेक (४) नृत्य (५) नृत (६) संगीत और (७) कथोपकथन।

दृश्य काव्य के भेद

दृश्य-काव्य के जिन उपकरणों का हमने अभी संक्षेप में वर्णन किया है उन्हें ध्यान में रखकर प्राचीन संस्कृत-नाटकाचार्यों ने दृश्य-काव्य के दो भेद किये हैं—(१) रूपक और (२) उपरूपक। रूपक में 'रस' की प्रधानता रहती है। 'रस' की परिपक्वता ही रूपक की सफलता का प्रमाण है। 'रस' के परिपाक में जिस प्रकार विभाव-अनुभाव आदि सहायक होते हैं उसी प्रकार नाटकीय 'रस' की परिपुष्टि में नृत्य और नृत आदि सहायता प्रदान करते हैं। इसलिए रूपक में अनुकृति का स्थान गौण रहता है। उपरूपक अनुकृति-प्रधान होता है। उसमें 'रस' की निष्पत्ति का स्थान गौण रहता है। हमारे यहाँ रूपकों का विस्तार बहुत बड़ा है। 'नाटक से रूपक व्यापक है और रूपक से भी व्यापक है 'नाट्य'। इस प्रकार रूपक और उपरूपक दोनों नाट्य के अन्तर्गत आते हैं।

रूपक के भेद

भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र के अनुसार वस्तु, पात्र और रस के आधार पर रूपक के दस भेद किये गये हैं—१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. डिम, ६. व्यायोग, ७. समवकार, ८. वीथी, ९. अंक और १०. ईहामृग। इन भेदों में नाटक ही प्रमुख है। यहाँ हम क्रमानुसार इन्हीं पर संक्षेप में विचार करेंगे :—

(१) नाटक—रूपक के भेदों में नाटक का प्रमुख स्थान है। इसमें नाट्य-शास्त्र सम्बन्धी सभी लक्षणों, नियमों और रसों का समावेश होता

है और वह सब प्रकार के रूपकों का प्रतिनिधित्व भी करता है। इसी लिए नाटकाचार्यों ने इसे 'नाट्य-प्रकृति' कहा है। हिन्दी में नाटक शब्द रूपक का स्थानापन्न हो गया है। शास्त्रीय दृष्टि से इस में (१) इतिहास-प्रसिद्ध कथा होनी चाहिए, (२) कथा का नायक अभिगम्य गुणों से युक्त धीरोदात्त होना चाहिए, (३) शृंगार, वीर और करुण रसों में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिए, (४) पाँच से दस तक अङ्कों का विधान होना चाहिए, (५) आरम्भ के अङ्कों की अपेक्षा पिछले अङ्कों का आकार छोटा होना चाहिए और (६) यथास्थान पाँचों संधियों और अर्थ-प्रकृतियों का प्रयोग होना चाहिए। सन्धियों में निर्वहण-संधि अद्भुत होनी चाहिए। आजकल इन विशिष्ट गुणों से सम्पन्न नाटक नहीं लिखे जाते। प्राचीन काल के नाटकों में कालिदास कृत *अभिज्ञान शाकुंतल* इसका उदाहरण है।

(२) प्रकरण--इसका कथानक लौकिक अथवा कवि-कल्पित होता है और नायक धीरशांत। वह मंत्री, ब्राह्मण अथवा वैश्य, कोई भी हो सकता है। धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील रहता है। उसकी नायिका कुल-कन्या अथवा वेश्या और कभी दोनों होती हैं। इस दृष्टि से इसके तीन भेद होते हैं--(१) शुद्ध प्रकरण वह होता है जिसमें नायिका कुल-कन्या होती है, *'मालती-माधव'* इसका उदाहरण है। (२) विकृत प्रकरण वह होता है जिसमें नायिका वेश्या होती है। *'पुष्प दूतिका'* इसका उदाहरण है। (३) संकीर्ण प्रकरण वह है जिसमें दोनों प्रकार की नायिकाएँ होती हैं। *'मृच्छकटिक'* इसका उदाहरण है। अन्य बातों में 'प्रकरण' नाटक के ही समान होते हैं।

(३) भाण--इसका कथानक कल्पित होता है और एक ही पात्र दो पात्रों का काम करता है। वह बुद्धिमान् विट् होता है और अपने तथा दूसरों के धूर्त्तापूर्ण कृत्यों का कथोपकथन के रूप में प्रकाशन करता है। वह स्वयं प्रश्न करता है और स्वयं ही उसका उत्तर देता है। इस प्रकार उसका कथोपकथन कल्पित होता है। वह ऊपर की ओर मुँह उठाकर

किसी कल्पित पुरुष से बातें करता है। नाट्य-शास्त्र में इस प्रकार की उक्ति-प्रयुक्ति को *आकाश-भाषित* कहते हैं। इसमें नायक शौर्य और सौंदर्य के वर्णन से 'वीर' और 'शृंगार' की सृष्टि करता है। इसके अतिरिक्त प्रायः भारती और कहीं-कहीं कौशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है। अङ्गों के सहित मुख और निर्वहण केवल दो संधियाँ रहती हैं। भारतेन्दु का '*विषस्यविषमौषधम्*' इसी प्रकार का उदाहरण है। अँगरेजी का मोनो ड्रामा भाण-जैसा ही होता है। इसे हिंदी का एकांकी कह सकते हैं।

(४) प्रहसन—इसका कथानक भी कल्पित होता है। इसमें हास्य-रस की प्रधानता रहती है और केवल एक ही अंक होता है। जिसमें मुख और निर्वहण संधियाँ होती हैं। '*अंधेर नगरी*' आदि इसके उदाहरण हैं। हिन्दी-एकांकी में इसकी भी गणना की जाती है। आगे इस सम्बन्ध में हम स्वतंत्र रूप से विचार करेंगे।

(५) डिम—इसका कथानक पुराण अथवा इतिहास-प्रसिद्ध होता है जो चार अंकों में विभाजित रहता है। इसमें देवता, गंधर्व, भूत, पिशाच, प्रेत आदि १६ नायक होते हैं और माया, इन्द्रजाल, संग्राम आदि का प्राधान्य रहता है। इसमें कौशिकी के अतिरिक्त तीनों वृत्तियाँ और 'हास्य' तथा 'शृंगार' के अतिरिक्त शेष रसों का प्रयोग होता है। इसमें चार ही संधियाँ होती हैं। 'त्रिपुरदाह' इसका उदाहरण है।

(६) व्यायोग—इसका कथानक पुराण अथवा इतिहास-प्रसिद्ध और नायक धीरोद्धत राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होता है। इसमें केवल कई नर-पात्र होते हैं और युद्ध होता है, पर वह स्त्री के कारण नहीं होता। अंक केवल एक रहता है जिसमें एक ही दिन का वृतान्त रहता है। रसों में 'हास्य' और 'शृंगार' और वृत्तियों में कौशिकी का प्रयोग नहीं होता। शेष बातों में यह डिम से मिलता-जुलता है। भारतेन्दु का 'धनञ्जय-विजय' इसी प्रकार का है। हिन्दी में इसे भी एकांकी के अन्तर्गत मान सकते हैं।

(७) समवकार—इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध, पर देवता

तथा असुरों से सम्बन्ध रखनेवाला होता है। इसमें बारह देवासुर नायक होते हैं और प्रत्येक का पृथक्-पृथक् फल होता है। अंक तीन होते हैं। पहले में छः घड़ी, लगभग ढाई घंटे, का वृत्तांत और दो संधियाँ, दूसरे में दो घड़ी (४८ मिनट) का वृत्तान्त और एक संधि तथा तीसरे में एक घड़ी (२४ मिनट) का वृत्तान्त और एक संधि होती है। इसमें विमर्श संधि का अभाव रहता है। आमुख-द्वारा पात्रों का परिचय होता है और वीर रस की प्रधानता रहती है। संस्कृत-साहित्य में '*अमृत-मंथन*' इसी प्रकार का रूपक है।

(८) वीथी—इसका कथानक कल्पित होता है। इसमें एक ही अंक रहता है। पात्र एक अथवा दो रहते हैं जो उत्तम अथवा मध्यम पुरुष होते हैं। इसमें भी भाण के समान आकाश-भाषित-द्वारा उक्ति प्रयुक्त होती है। रसों में शृंगार और वीर, वृत्तियों में कौशिकी वृत्ति, संधियों में मुख और निर्वहरण और पाँचों अर्थ-प्रकृतियों की मधानता रहती है। इसकी भी हिन्दी-एकाकी में गणना की जाती है। '*सोती मधुकर*' इसका उदाहरण है।

(९) अंक—इसका कथानक इतिहास-प्रसिद्ध होता है, पर लेखक अपनी कल्पना-शक्ति से इसमें विस्तार कर सकता है। इसमें वाणी का युद्ध होता है और उसी के अनुसार जय-पराजय का निश्चय होता है। साधारण पुरुष इसका नायक होता है। स्त्रियों के विलाप का आधिक्य होने के कारण यह करुण रस-प्रधान होता है। इसमें लास्य के दसों अंग, मुख तथा निर्वहरण संधियाँ और भारती तथा कौशिकी वृत्तियाँ होती हैं। अंक केवल एक ही होता है। इसे भी हिन्दी-एकाकी के अन्तर्गत ले सकते हैं। इसका उदाहरण है—*शर्मिष्ठा ययाति*।

(१०) ईहामृग—इसमें कथानक कुछ प्रसिद्ध और कुछ कल्पित होता है और इसका धीरोद्धत नायक हरिणी-सदृश अलभ्य नायिका की इच्छा करता है। प्रतिनायक उसे नायक से छुड़ाना चाहता है।

फलतः युद्ध तक की नौबत आती है, पर युद्ध नहीं होता। इसमें चार अंक और तीन संधियाँ होती हैं।

उपरूपक के भेद

उपरूपक के अठारह भेद होते हैं जिनके नाम हैं :—(१) नाटिका (२) त्रोटक, (३) गोष्ठी, (४) सट्टक, (५) नाट्यरासक, (६) प्रस्थानक, (७) उल्लाप्य, (८) काव्य, (९) रासक, (१०) प्रेंखण, (११) संलापक, (१२) श्रीगदित, (१३) शिल्पक, (१४) विलासिका, (१५) दुर्मल्लिका, (१६) प्रकरणिका, (१७) हल्लीश और (१८) भाणिका। इनमें से नाटिका, त्रोटक, प्रकरणिका और सट्टक ही मुख्य हैं। नाटिका नाटक के समान ही होता है। इसमें नाटक और प्रकरण का मिश्रित रूप रहता है। पात्रों में अधिक संख्या स्त्रियों की होती है। नायक धीरललित राजा होता है और नायिका राज-वंश की कोई प्रवीण नायिका अथवा रनिवास से सम्बन्ध रखनेवाली कोई अन्य अनुरागवती सुन्दरी होती है। महारानी के भय से नायक राजा अपने प्रेम में शंकित रहता है। नायक और नवीन नायिका का सम्मिलन उसी के अधीन रहता है। इस प्रकार यह शृङ्गार रस-प्रधान होता है। इसमें चार अंक होते हैं और कथा कल्पित होती है। '*रत्नावली*' इसका उदाहरण है।

त्रोटक पाँच, सात, आठ अथवा नौ अंकों का होता है और देवता तथा मनुष्य इसके पात्र होते हैं। प्रत्येक अंक में विदूषक का व्यापार रहता है। इसमें शेष सब बातें नाटक के ही समान होती हैं। प्रकरणिका प्रकरण के जोड़ का उपरूपक है। इसका नायक व्यापारी होता है और उसकी नायिका उसी की जाति की होती है। शेष बातें प्रकरण के समान होती हैं। सट्टक भी नाटिका के समान होता है। इसकी रचना प्राकृत में होती है। इसमें अद्भुत रस की प्रधानता रहती है। इसके अंकों को 'जवनिका' कहते हैं। इसका उदाहरण '*कर्पूरमंजरी*' है। उपरूपक के अन्य भेद अनावश्यक हैं। आज के साहित्य में उनका कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः वे नाटक-लक्षणकारियों के मस्तिष्क की उपज-मात्र हैं।

हम अभी प्राचीन शास्त्रीय दृष्टिकोण से वस्तु, नायक और रस के आधार पर किये गये रूपक तथा उपरूपक के विभिन्न भेदों के सम्बन्ध में विचार कर चुके हैं। वास्तव में यही तीनों रूपक के प्रधान तत्त्व हैं। इनमें अभिनय इसलिए नहीं दिया गया है कि वह तो सबमें सम्मिलित रूप से वर्तमान रहता ही है। यदि पृथक् रूप से अभिनय और वृत्ति को भी रूपक के तत्त्वों में सम्मिलित कर लें तो उसके पाँच तत्त्व हुए:—(१) वस्तु, (२) पात्र, (३) रस, (४) अभिनय, और (५) वृत्ति। चरित्र-चित्रण और कथोपकथन इन्हीं पाँचों के अन्तर्गत आ जाते हैं। उद्देश्य-तत्त्व भी रस-तत्त्व में तिरोहित हो जाता है। रूपक के तत्त्वों में इन सबका पृथक् स्थान नहीं है। पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति *चरित्र-चित्रण* पर विशेष बल देती है और प्राचीन भारतीय नाट्य-परम्परा रस-परिपाक पर। हिन्दी के आधुनिक नाटकों में पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति का ही अनुसरण मिलता है। आधुनिक नाटकों के तत्त्वों पर हम अन्यत्र विचार करेंगे। यहाँ प्राचीन रूपकों के तत्त्वों पर विचार किया जाता है।

रूपक के तत्त्व

रूपक का प्रथम और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है वस्तु। वस्तु को कथावस्तु अथवा 'प्लाट' भी कहते हैं। वस्तुतः इसकी सफलता पर ही रूपक की सफलता निर्भर करती है। वस्तु का कथा-संगठन जितना सुव्यवस्थित और सुसंगठित होता है रूपक रस-परिपाक में उतना ही सफल होता है।

१. वस्तु

[१] आधार-सम्बन्ध की दृष्टि से वस्तु-भेद—आधार सम्बन्ध से वह तीन प्रकार की होती है:—(१) प्रख्यात, (२) उत्पाद्य और (३) मिश्र। जो वस्तु इतिहास, पुराण अथवा परम्परागत-जनश्रुति पर आधारित होती है वह प्रख्यात कहलाती है। उत्पाद्य उस वस्तु को कहते हैं जिसे कवि अथवा नाटककार अपनी कल्पना से गढ़ता है। आधुनिक सामाजिक तथा समस्या-प्रधान नाटकों के कथानक प्रायः इसी प्रकार के

है। इसके विरुद्ध जिस वस्तु में कल्पना और इतिहास दोनों का समन्वय रहता है उसे मिश्र कहते हैं।

[२] **संगठन की दृष्टि से वस्तु-भेद**—संगठन अथवा विन्यास की दृष्टि से वस्तु दो प्रकार की होती है:—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। आधिकारिक वस्तु का सम्बन्ध मूल कथा से होता है। मूल कथा की सहायक कथा को प्रासंगिक वस्तु कहते हैं। प्रासंगिक वस्तु का उद्देश्य आधिकारिक वस्तु की सौंदर्य-वृद्धि करना और मूल कार्य अथवा व्यापार के विकास में सहायता देना है। आधिकारिक वस्तु में प्रधान नायक-नायिका की फल-सिद्धि होती है और प्रासंगिक वस्तु में उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य पात्रों की। यह फल-सिद्धि नायक की फल-सिद्धि से भिन्न होती है, पर उससे नायक का हित-साधन अवश्य होता है। आधिकारिक वस्तु की सहायक एक अथवा कई प्रासंगिक कथाएँ हो सकती हैं। ये दो प्रकार की होती हैं:—(१) पताका और (२) प्रकरी। जब प्रासंगिक कथा का प्रसंग आधिकारिक कथा के साथ अन्त तक चलता है तब उसे पताका कहते हैं। इसके विरुद्ध जब प्रासंगिक कथा थोड़ी दूर चलकर शान्त हो जाती है तब उसे प्रकरी कहते हैं।

[३] **कथोपकथन की दृष्टि से वस्तु-भेद**—कथोपकथन की दृष्टि से वस्तु के तीन भेद और हैं:—(१) श्राव्य, (२) अश्राव्य और (३) नियत-श्राव्य। जो सब पात्रों के सुनने योग्य हो उसे श्राव्य और जो किसी पात्र के सुनने योग्य न हो उसे अश्राव्य अथवा स्वगत कहते हैं। आधुनिक नाटकों में स्वगत कथन का प्रयोग अस्वाभाविक माना जाता है, पर कहीं-कहीं होता भी है। जो बात केवल कुछ ही पात्रों के सुनने योग्य होती है उसे नियत-श्राव्य कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है:—(१) अपवारित और (२) जनांतिक। अपवारित का अर्थ है—गोपनीय रखना, छिपाना। सामने के पात्र की ओर से मुँह फेरकर उसके किसी रहस्यपूर्ण बात के सम्बन्ध में उससे छिपाकर कटाक्ष करने को अपवारित कहते हैं। जब रंग-मंच

पर कई पात्रों में से केवल दो पात्र, अनामिका के अतिरिक्त शेष तीन उँगलियों की ओट देकर, गुप्त संभाषण करते हैं तब उसे जनांतिक कहते हैं। आकाश-भाषित भी कथोपकथन का एक प्रकार माना गया है। इसमें कोई पात्र आकाश की ओर मुँह उठाकर किसी कल्पित पात्र से बातें करता है। इस प्रकार आकाश-वाणी से यह भिन्न होता है।

वस्तु में अर्थ-प्रकृति

वस्तु में कुछ ऐसे चमत्कारयुक्त अंश अथवा साधन भी होते हैं जो उसे प्रधान फल—*अर्थ, धर्म अथवा काम की प्राप्ति* की ओर अग्रसर करते हैं। प्राचीन नाट्य-शास्त्र के अनुसार इन चमत्कारयुक्त अंशों को अर्थ-प्रकृति कहते हैं। यह पाँच प्रकार की होती है:—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। मुख्य फल का हेतु वह कथा भाग, जो क्रमशः *विस्तृत* होता जाता है, बीज कहलाता है। जिस प्रकार बीज में फल छिपा रहता है उसी प्रकार बीज में नाटक के फल की संभावना रहती है। इसका प्रारंभिक रूप अत्यन्त सूक्ष्म रहता है, पर ज्यों-ज्यों व्यापार-शृंखला आगे बढ़ती है त्यों-त्यों इसका भी विस्तार होता जाता है। बीज के अंकुरित होने और कथा-सूत्र के आगे बढ़ने पर विविध विरोधी तथा अप्रासंगिक बातें उपस्थित होती हैं, पर उन सबमें कथानक को अविच्छिन्न रखनेवाला तत्व बिन्दु कहलाता है। पताका और प्रकरी के सम्बन्ध में पहले बताया जा चुका है। यहाँ इतना ही स्मरण रखना चाहिए कि इनके नायकों का कोई स्वतन्त्र उद्देश्य *नहीं होता*। कार्य वह प्रधान साध्य है जिसके लिए आधिकारिक वस्तु का विधान, समस्त उपायों का आरम्भ और सामग्री का एकत्रीकरण होता है। *रत्नावली नाटिका* में कार्य है उदयन और रत्नावली का विवाह।' इसी के लिए आधिकारिक वस्तु का विधान और *समस्त* साधनों का सूत्रपात हुआ है।

प्रत्येक रूपक में कार्य-शृंखला की पाँच अवस्थाएँ होती हैं:—(१)

आरम्भ, (२) प्रयत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम। जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिए औत्सुक्य होता है उसे आरंभ और जिसमें उस फल की प्राप्ति के लिए शीघ्रता से उद्योग किया जाता है उसे प्रयत्न कहते हैं। फल-प्राप्ति की आशा को प्राप्त्याशा कहते हैं। इसमें विफलता की आशंका भी बनी रहती है। सफलता का निश्चय हो जाने को नियताप्ति और सफलता प्राप्त होने की अवस्था को फलागम कहते हैं। शकुन्तला नाटक में शकुन्तला को देखने की इच्छा को आरम्भ; दुष्यन्त का माढव्य से उसके सम्बन्ध में सलाह करने को प्रयत्न; दुर्वासा ऋषि के शाप का किंचित् शमन हो जाने पर प्राप्त्याशा; अँगूठी मिलने पर मिलन की आशा का निश्चय हो जाना नियताप्ति और अन्त में शकुन्तला और दुष्यन्त का मिलन फलागम है।

वस्तु में कार्य की अवस्थाएँ

अर्थ-प्रकृति और अवस्थाओं के मेल को संधि कहते हैं। वस्तु-विन्यास में संधि का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वस्तु विविध घटनाओं तथा कथाओं का एक अभीष्ट फल के लिए ग्रथित रूप है। अतः जहाँ एक प्रयोजनवाली घटनाओं से निर्मित कथांशों में से जो सूत्र विभिन्न प्रयोजनवाले आगे के कथांश से सम्बन्ध कराती है उसे ही संधि कहते हैं। इसके पाँच भेद होते हैं:—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श और (५) निर्वहण। 'आरम्भ' नामक अवस्था के साथ संयोग होने से जहाँ अनेक रसों और अर्थों के व्यंजक बीज की उत्पत्ति होती है वहाँ मुख संधि समझी जाती है। प्रतिमुखसंधि में बीज अंकुरित होता हुआ दिखायी देता है। इसी से घटना-क्रम आगे चलता है। इसमें फल-प्राप्ति के प्रारम्भिक उपायों के रहस्य कुछ तो उद्घाटित हो जाते हैं और कुछ अस्पष्ट रहते हैं। गर्भ संधि में अंकुरित बीज का और भी विस्तार होता है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का मेल होता है और फल-प्राप्ति की ओर अग्रसर उपायों में संघर्ष रहता है, अर्थात् कभी उपाय का विनाश

वस्तु में संधियाँ

होता है, कभी ह्रास। विमर्श संधि में नियताप्ति और प्रकरी का मेल होता है। इसमें गर्भ संधि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होता है, परन्तु इसके फलोन्मुख होने पर शाप, क्रोध और विपत्ति आदि बाधाएँ उपस्थित होती हैं। इन बाधाओं के कारण आशा का सूत्र एक दम विच्छिन्न हो जाता है। इस संधि को अवकर्ष संधि भी कहते हैं। निर्वहण संधि अथवा उपसंहार में समस्त विघ्न शान्त हो जाते हैं और पूर्व कथित चारों संधियों में वर्णित प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है।

अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं तथा संधियों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि उनका प्रयोग भिन्न-भिन्न विचारों से किया जाता है तथापि उनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद होते हैं और उनमें एक प्रकार से तात्त्विक सहयोग होता है। अर्थ-प्रकृति वस्तु के तत्त्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से और संधियाँ रूपक-रचना के विभागों से सम्बन्ध रखती हैं। इनका स्पष्टीकरण निम्न सारिणी से हो सकता है :—

अर्थ-प्रकृति	+	अवस्था	=	संधि
१. बीज	+	आरंभ	=	मुख
२. बिन्दु	+	प्रयत्न	=	प्रतिमुख
३. पताका	+	प्राप्त्याशा	=	गर्भ
४. प्रकरी	+	नियताप्ति	=	विमर्श
५. कार्य	+	फलागम	=	निर्वहण

वस्तु-विधान: अंक और दृश्य

रचना की दृष्टि से वस्तु में दो प्रकार की सामग्री रहती है :—(१) दृश्य वस्तु और (२) सूच्य वस्तु। दृश्य वस्तु वह सामग्री होती है जो प्रधान रूप से मंच पर दिखायी जाती है और उसका विस्तार करना आवश्यक है। इसके विरुद्ध कुछ सामग्री ऐसी भी होती है जिसे मंच पर दिखाने की तो आवश्यकता नहीं होती, पर जिसकी सूचना देना अपेक्षित होता है। ऐसी सामग्री को सूच्य वस्तु कहते हैं। सूच्य वस्तु में लम्बी यात्रा, वध, मृत्यु, युद्ध, विप्लव, नगर आदि का घेरा डालना,

लूटमार, अग्निकांड, भोजन, स्नान, चुंबन, अनुलेपन, वस्त्र पहनना आदि की गणना की जाती है। इनका रंग मंच पर दिखाना वर्जित है। दृश्य-वस्तु के अन्तर्गत आनेवाली बातें अंकों में दिखायी जाती हैं। उन्हें अंकों में दिखाते समय निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) रूपक के प्रधान खंड को अङ्क कहते हैं। अङ्क में नायक के कृत्यों का प्रत्यक्ष वर्णन रहता है, अतएव उसे सरस और भावपूर्ण होना चाहिए। एक नाटक में ५ से १० तक अंक हो सकते हैं।

(२) प्रत्येक अङ्क में प्रधानता एक ही रस को मिलनी चाहिए और वह भी या तो शृङ्गार को अथवा वीर को। अन्य रसों को गौण स्थान मिलना चाहिए। अद्भुत रस अंक के अन्त में आना चाहिए।

(३) प्रत्येक अंक की दृश्य-वस्तु में एक दिन से अधिक की घटनाओं का समावेश नहीं होना चाहिए। यदि उसकी सामग्री अधिक है तो उसे संक्षेप कर लेना चाहिए। संक्षेप करते समय घटनाओं की सम्बद्धता पर ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है।

(४) एक अंक की दूसरे अङ्क के साथ इस प्रकार संबद्धता होनी चाहिए कि साधारणतः अगले अङ्क की घटना पिछले अङ्क की घटना से निकली हुई और उससे जुड़ी हुई जान पड़े। प्रत्येक अङ्क की कथा को स्वतःपूर्ण नहीं होना चाहिए।

(५) अङ्कों का आकार क्रमशः छोटा होता जाना चाहिए।

(६) यदि किसी अङ्क में किसी कार्य की समाप्ति अथवा किसी फल की सिद्धि होती जान पड़े तो कार्य-व्यापार को अग्रसर करने के लिए किसी तत्सम्बन्धी घटना का समावेश कर देना चाहिए।

(७) दो अङ्कों के बीच में एक वर्ष तक का समय अंतर्हित होना चाहिए। यदि इससे अधिक का समय दिखाना अभीष्ट हो तो उसे घटाकर एक वर्ष या उससे भी कम कर देना चाहिए और इसकी सूचना दर्शकों को दे देनी चाहिए।

प्राचीन नाटककारों ने दर्शकों को दो अङ्कों की घटनाओं के सम-

यान्तर की सूचना देने के लिए अङ्कों के अन्तर्गत दृश्यों का विधान किया है जिन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं। अर्थोपक्षेपक-द्वारा वे बातें भी प्रकट की जाती हैं जो सूच्य-वस्तु में गिनी जाती हैं। इनका स्पष्टीकरण पाँच प्रकार से होता है :—

(१) विष्कंभक—वह दृश्य है जिसमें पहले अथवा बाद में होनेवाली घटना की सूचना संक्षिप्त वर्णन अथवा दो पात्रों के कथोपकथन-द्वारा दर्शकों को दी जाती है। यह अङ्क के पहले अर्थात् नाटक के आरंभ में अथवा दो अङ्कों के बीच में आता है। पात्रों के अनुसार यह दो प्रकार का होता है:—(१) शुद्ध और (२) संकर। जिसमें पात्र मध्यम श्रेणी के होते हैं और संस्कृत बोलते हैं वह है शुद्ध और जिसमें पात्र मध्यम तथा निम्न श्रेणी के होते हैं और संस्कृत के साथ प्राकृत भी बोलते हैं वह संकर कहलाता है। आधुनिक नाटकों में इस प्रकार का भेद अनावश्यक है। अब न तो ऊँच-नीच का भेद ही है और न कोई संस्कृत और प्राकृत ही बोलता है।

(२) प्रवेशक—वह दृश्य है जिसमें विष्कंभक की भाँति पूर्व अथवा आगे आनेवाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रवेशक में यह सूचना केवल ऐसे नीच पात्रों-द्वारा दी जाती है जो उत्कृष्ट भाषा का प्रयोग नहीं करते। दूसरी बात यह है कि इसका विधान पहले अङ्क के पूर्व न आकर अन्य दो अङ्कों के मध्य में होता है। इसमें उन्हीं बातों का समावेश होता है जो कहने से छूट जाती हैं। शकुन्तला नाटक में इन दोनों के उदाहरण मिल सकते हैं।

(३) चूलिका—नेपथ्य में किसी रहस्य की सूचना देना चूलिका कहलाता है। इस प्रकार की सूचना पर्दे के पीछे से दी जाती है।

(४) अंकास्य—अङ्क के अन्त में बाहर जानेवाले पात्रों-द्वारा अगले अङ्क की कथा की जो सूचना दी जाती है उसे अंकास्य कहते हैं। इसके द्वारा अभिनीत अङ्क की कथा के साथ अभिनेय अङ्क की संगति मिला दी जाती है।

(४) अंकावतार—जब रंग-मंच पर बिना पात्रों के बदले हुए पूर्वांक की कथा ही अगले अङ्क में चलायी जाती है तब अंकावतार होता है। अंकावतार में पात्रों का परिवर्तन नहीं होता। एक अङ्क के पात्र उसका अन्त होने पर बाहर जाकर उसके अगले अङ्क में पुनः आ जाते हैं।

रूपक में वस्तु से भी महत्त्वपूर्ण तत्त्व है पात्र। रूपक के सभी अन्य तत्त्व पात्र के आश्रित रहते हैं। पात्र के दो मुख्य भेद हैं :—(१) प्रधान और (२) सहायक। पात्रों में प्रधान पात्र

२. पात्र

को नायक कहते हैं। रूपक में नायक को ही फल-प्राप्ति होती है और वही कथा-सूत्र को आरम्भ से अंत तक अग्रसर करता है। प्राचीन नाट्य-शास्त्रों में उसे सब उदात्त गुणों से सम्पन्न माना गया है। वह विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, लोकप्रिय, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान्, प्रज्ञावान, स्मृति-संपन्न, उत्साही, कलावान्, शास्त्र-चक्षु, आत्म-सम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी और धार्मिक होता है। नायक के इन गुणों से स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन रूपकों में चरित्र के विकास का कोई स्थान ही नहीं था। जो चरित्र स्वयं विकसित है, उसका क्या विकास हो सकता है! इस दृष्टि से नायक नये गुणों को धारण न करके रंग-मंच पर अपने गुणों का केवल उद्घाटन करता था। नायक के अवगुणों का उद्घाटन भी प्राचीन नाटककारों को अपेक्षित नहीं था। वे उसके द्वारा जनता के नैतिक विचारों को आघात नहीं पहुँचाना चाहते थे। आधुनिक नाटककार न तो अपने नायकों में उक्त गुणों का होना आवश्यक मानते हैं और न उनके दोषों को गोपनीय रखते हैं। नाटक में उनका उद्देश्य होता है—नायक के चरित्र का विकास। इसके विरुद्ध रूपकों में नाटककार का उद्देश्य रहता था—रस का परिपाक। रस के परिपाक के लिए धीर और उदात्त प्रकृतिवाले नायकों की ही सृष्टि की जाती है। स्वभाव-भेद से उनके चार भेद होते हैं:—(१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीरशांत और (४) धीरोद्धत। इन चारों प्रकार के नायकों से स्पष्ट है कि धीरता

नायक का प्रधान गुण है। जो धीर और दृढ़ नहीं, जो अपने आपको वश में नहीं रख सकता वह नायक नहीं हो सकता। यहाँ हम इन्हीं के सम्बन्ध में विचार करेंगे :—

(१) धीरोदात्त नायक—इस प्रकार के नायक का चरित्र अत्यन्त उदार होता है। उसमें शक्ति के साथ क्षमा एवं दृढ़ता और आत्म-गौरव के साथ विनय एवं निरभिमानता रहती है। *रामचन्द्र* और *युधिष्ठिर* धीरोदात्त नायक हैं।

(२) धीरललित नायक—इस प्रकार का नायक बड़े कोमल स्वभाव का होता है। वह कलाविद्, सुखान्वेषी और निश्चिन्त-मना होता है। *दुष्यन्त* धीरललित नायक है।

(३) धीरशान्त नायक—इस प्रकार का नायक ब्राह्मण अथवा वैश्य होता है। उसका स्वभाव शान्त और सन्तोषी होता है। उसमें उग्रता नहीं होती। इसीलिए इस प्रकार के नायक क्षत्रिय नहीं होते। *मालती माधव* के नायक माधव ऐसे ही नायक हैं।

(४) धीरोद्धत नायक—इस प्रकार का नायक मायावी, असहन-शील, छली, शूर, उद्धत, आत्म-प्रशंसक तथा स्वभाव से प्रचण्ड और चपल होता है। उसमें गुण कम और दोष अधिक होते हैं। वह अहकार और दर्प से भरा हुआ होता है। *भीम* और *मेघनाद* धीरोद्धत नायक हैं।

प्राचीन परंपरा के अनुसार रूपक में उक्त चारों प्रकार के नायकों में से किसी एक प्रकार के नायक का होना अनिवार्य है, अन्यथा नाटकीय *शृंखला* की एकता की रक्षा ही नहीं हो सकती। गौण पात्रों में स्वभाव का परिवर्तन दिखाया जा सकता है। कहीं वह उदात्त, कहीं ललित, कहीं शांत और कहीं उद्धत हो सकता है। नायक में स्वभाव का परिवर्तन अवांछनीय है। नाट्य-शास्त्रकारों ने उनमें से प्रत्येक के पुनः चार-चार भेद किये हैं—(१) अनुकूल, (२) दक्षिण (३) शठ और (४) धृष्ट। अनुकूल नायक एक ही पत्नी-व्रत होता है। राम अनुकूल धीरोदात्त नायक हैं। दक्षिण नायक की एक से अधिक

पत्नियाँ होती हैं। उनमें से नवीन के प्रति उसका विशेष आकर्षण होता है, पर अन्य के प्रति भी उसका पूर्ववत् प्रेम रहता है। शठ नायक दिखाने के लिए एक ही पत्नी में अनुरक्त रहता है, पर छिपे-छिपे अन्य नायिकाओं से भी प्रेम करता है। धृष्ट नायक वही कर्म खुलकर करता है। नायिका के प्रति आकर्षण की दृष्टि से इन चारों प्रकार के नायकों का समावेश एक ही नायक में भी हो सकता है। नाटकाचार्यों ने इनके भी तीन-तीन भेद किये हैं:—(१) ज्येष्ठ, (२) मध्यम और (३) अधम। इनमें से प्रत्येक के पुनः तीन-तीन भेद किये गये हैं:—(१) दिव्य, (२) अदिव्य और (३) दिव्यादिव्य। इस प्रकार नायक के कुल ४×४×३×३=१४४ भेद होते हैं। ये भेद सामान्य गुणों के आधार पर ही किये गये हैं। इनके अतिरिक्त नायक में शोभा, विलास, माधुर्य, गांभीर्य, स्थिरता, तेज, लालित्य और औदार्य—इन आठ सात्त्विक गुणों का होना भी आवश्यक है। इससे यह स्पष्ट है कि हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने मानव-स्वभाव की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रवृत्ति पर विचार किया है और तब उन्हें अपने रूपकों का नायक बनाया है।

रूपक में नायक के अतिरिक्त उसकी सहायता के लिए अन्य पात्र भी होते हैं। नायक का प्रतिद्वन्द्वी **प्रतिनायक** होता है। वह सदा धीरोद्धत होता है। उसी के द्वारा नायक के गुणों का उद्घाटन होता है। प्रासंगिक कथा का नायक **पीठमर्द** कहलाता है। पीठमर्द नायक का अंतरंग मित्र होता है। वह कार्य-कुशल, अनुचारी और भक्त होता है। नायक के शेष सहायक व्यवसायी होते हैं। इनके छः भेद हैं:—(१) शृंगार-सहाय, (२) अर्थ-चिन्ता-सहाय, (३) दंड-सहाय, (४) धर्म-सहाय, (५) अन्तःपुर-सहाय और (६) संवाद-सहाय अर्थात् दूत। शृंगार-सहाय में (१) विट् (२) चेट, (३) विदूषक आदि होते हैं। विट् नायक का निजी सेवक होता है। वह अपने स्वामी को प्रसन्न रखने के लिए नृत्य, गीत आदि कई उपायों से काम लेता है। चेट का अर्थ है दास। विदूषक भी नायक का मित्र होता है। उसका काम लोगों को हँसाना है। वह

अपनी वेश-भूषा, चाल-ढाल और आचार-व्यवहार से सबको हँसाया करता है। अर्थ-चिन्ता-सहाय प्रायः राजा होते हैं जिन्हें अपनी अर्थ-व्यवस्था के लिए मंत्री और कोषाध्यक्ष पर निर्भर रहना पड़ता है। दंड-सहाय दुष्टों के दमन में सहायक होते हैं। धर्म-सहाय पुरोहित, तपस्वी और ब्रह्मवादी; अंतःपुर सहाय हिजड़े, और संवाद-सहाय दूत आदि होते हैं। दूत किसी कार्य की सिद्धि के लिए अथवा सदेश देकर भेजे जाते हैं। इस प्रकार सहायक पात्रों का भी विशद विवेचन प्राचीन नाट्य-ग्रंथों में मिलता है।

नायक की भाँति नायिकाओं के भी भेद और उपभेद किये गये हैं। नायक की पत्नी को नायिका कहते हैं। आचार्यों ने नायिका के तीन प्रधान भेद माने हैं—(१) स्वकीया, (२) परकीया और (३) सामान्या। स्वकीया नायिका पतिव्रता, चरित्रवती, लज्जावती और अपने पति की सेवा में रत होती है। परकीया पराई होती है। वह विवाहिता भी हो सकती है और अविवाहिता भी। सामान्या किसी की स्त्री नहीं होती। उसे गणिका कहते हैं। इन तीनों प्रकार की नायिकाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म गुणों के आधार पर संख्यातीत भेदोपभेद किये गये हैं। यहाँ हम उन सब का विवेचन उपयुक्त नहीं समझते। आधुनिक नाटकों में जिस स्त्री का प्रधान भाग रहता है, वही नायिका कहलाती है। नायक की प्रिया होना उसके लिए आवश्यक नहीं है।

३. रस

अब हमें रूपक के तीसरे तत्त्व—रस—पर विचार करना है। रस ही रूपक की आत्मा है। इसका अर्थ है आस्वाद्य। पारिभाषिक भाषा में स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और सचारी भावों से पुष्ट होकर अपनी परपक्वावस्था को पहुँचता है तब उसके आस्वादन से सहृदय सज्जनों के हृदय में जो आनन्द उत्पन्न होता है उसे रस कहते हैं। इस परिभाषा को समझने के लिए हमें स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव का अर्थ समझना चाहिए। भरत मुनि के अनुसार रसों के आधार भाव हैं।

भाव मन के विकार को कहते हैं। विकार का अर्थ है—परिवर्तन। इस प्रकार किसी वस्तु को देखने अथवा कल्पना से उस पर विचार करने से मन की जो दशा हो जाती है उसे भाव कहते हैं। इन भावों में से जो भाव आदि से अन्त तक रहता है वही **स्थायी भाव** कहलाता है। स्थायी भाव के अतिरिक्त मन के अन्य भाव संचारी अथवा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। जबतक स्थायी भाव मन में रहता है तबतक उसी का प्राधान्य रहता है और समस्त संचारी भाव उसके अन्तर्गत रहते हैं। स्थायी भाव ही रस के लिए मूलाधार उपस्थित करते हैं। संचारी भाव क्षणिक होते हैं। उनका उद्देश्य एकमात्र स्थायी भाव को पुष्ट करना होता है। वे मन-रूपी सागर में लहर की भाँति उठते हैं और क्षण-मात्र में विलीन हो जाते हैं। उनकी संख्या तैंतीस मानी गयी है जो इस प्रकार है :—निर्वेद, ग्लानि, शंका, श्रम, धृति, जड़ता, हर्ष, दैन्य, उग्रता, चिन्ता, त्रास, असूया, अमर्ष, गर्व, स्मृति, मरण, मद, स्वप्न, निद्रा, विबोध, व्रीड़ा, अपस्मार, मोह, मति, अलसता, आवेग, तर्क, अवहित्था, व्याधि, उन्माद, विषाद, औत्सुक्य और चपलता। किसी भी रस की पुस्तक से इन संचारी भावों के संबंध में विशेष रूप से जाना जा सकता है। यहाँ केवल इतना ही ध्यान में रखना चाहिए कि रस में एक स्थायी भाव के साथ कई संचारी भाव आ सकते हैं और एक संचारी भाव कई रसों में आ सकता है।

हम अभी बता चुके हैं कि स्थायी भाव ही रस के निष्पादक होते हैं, पर उनके रस-अवस्था तक पहुँचने के पूर्व उनका जागरित होना आवश्यक है। यह कार्य विभाव करते हैं। हमारे मन में जो भावों को विशेष रूप से उत्पन्न करते हैं उनको विभाव कहते हैं। विभाव दो प्रकार के होते हैं:—(१) आलम्बन और (२) उद्दीपन। मन में स्थायी भाव को उत्पन्न करनेवाले को आलम्बन और उसके पोषक को उद्दीपन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव पर ही रस आश्रित रहता है। जिसके हृदय में भाव उदय होता है वह आश्रय और जिसको देखकर किसी

के हृदय में भाव उदय होता है वह आलम्बन होता है। उदाहरणार्थ, यदि लक्ष्मण को देखकर परशुराम के हृदय में क्रोध उत्पन्न होता है तो परशुराम आश्रय और लक्ष्मण आलम्बन होंगे। आश्रय के मन में भाव उदय होने पर यदि उसका बाह्य प्रदर्शन हो तो उस प्रदर्शन को अनुभाव कहेंगे। क्रोध से परशुराम का पैर पटकना, दाँत पीसना आदि अनुभाव ही हैं। इसके विरुद्ध आलम्बन की चेष्टाएँ उद्दीपन कहलायेंगी। राम का हँसना और किलकना कौशिल्या के लिए उद्दीपन है और कौशिल्या का हाथ फैलाना और राम को गोद में उठा लेना आदि अनुभाव हैं। अनुभाव तीन प्रकार के होते हैं :—(१) मानसिक (२) कायिक और (३) सात्विक। जब मन में स्थायी भाव के कारण कोई विकार उत्पन्न होता है तब उसे मानसिक अनुभाव कहते हैं। मानसिक अनुभूति का बाह्य-प्रदर्शन ही कायिक अनुभाव कहलाता है। यही अनुभाव जब मन की अत्यन्त विह्वलकारी दशा से उत्पन्न होते हैं तब सात्विक अनुभाव कहलाते हैं। सात्विक अनुभाव आठ हैं:—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। अनुभाव के तीनों भेदों में यही आठ सात्विक अनुभाव प्रमुख हैं। इनकी उत्पत्ति कृत्रिम नहीं होती। भावावेश में इनकी उत्पत्ति स्वयं हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रस की उत्पत्ति में विभाव, अनुभाव, संचारी भाव तथा स्थायी भाव सहायक होते हैं। विभावों से स्थायी और संचारी भावों की और स्थायी भाव से अनुभावों की उत्पत्ति होती है। रसों पर सब का सामूहिक प्रभाव पड़ता है। हम पहले बता चुके हैं कि स्थायी भाव ही रस को जन्म देता है। स्थायी भाव नौ होते हैं:— रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा अथवा घृणा, विस्मय और निर्वेद अथवा शम। इन्हीं नौ स्थायी भावों के अनुसार क्रमशः नौ रसों की उत्पत्ति होती है : –(१) शृंगार, (२) हास्य, (३) करुणा, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) वीभत्स, (८) अद्भुत और (९) शान्त। इनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जाता है।

(१) शृंगार रस—इस रस का स्थायी भाव रति है। यह सबसे अधिक व्यापक रस है। इसमें आठों स्थायी भावों, आठों सात्विक अनुभावों तथा सभी संचारी भावों का उपयोग होता है। इसके दो भेद होते हैं—(१) विप्रलंभ और (२) संयोग। विप्रलंभ शृङ्गार में वियोग और संयोग शृङ्गार में समोग होता है।

(२) हास्य रस—इस रस का स्थायी भाव हास है। अपने अथवा पराये परिधान, वचन अथवा क्रिया-कलाप से उत्पन्न हुए हास का परिपुष्ट होना हास्य रस कहलाता है। इसके छः भेद होते हैं :—(१) स्मित, (२) हसित, (३) विहसित, (४) उपहसित, (५) अपहसित और (६) अतिहसित। निद्रा, श्रम, ग्लानि और मूर्छा हास्य के संचारी भाव हैं।

(३) वीर रस—इस रस का स्थायी भाव उत्साह है। इसमें मति, गर्व, धृति, और प्रहर्ष संचारी सहायक होते हैं। इसके तीन प्रकार हैं:—(१) दयावीर, (२) दानवीर और (३) युद्ध-वीर।

(४) अद्भुत रस—इस रस का स्थायी भाव विस्मय है। आश्चर्यजनक लौकिक पदार्थों से अद्भुत रस होता है। अश्रु, स्वेद आदि इसके अनुभाव और हर्ष, आवेग, धृति आदि इसके पोषक संचारी भाव हैं।

(५) वीभत्स रस—इस रस का स्थायी भाव जुगुप्सा अथवा घृणा है। नाक-संकोच और मुख मोड़ना आदि इसके अनुभाव और आवेग, व्याधि तथा शंका आदि इसके संचारी भाव हैं।

(६) भयानक रस—इस रस का स्थायी भाव भय है। वेपथु, स्वेद, शोक और वैचित्र्य इसके अनुभाव और दैन्य, संभ्रम, मोह, त्रास आदि इसके संचारी भाव होते हैं।

(७) रौद्र रस—इस रस का स्थायी भाव क्रोध है। अपने होठों को दाँतों से दबाना, कंप, भृकुटी टेढ़ी करना, स्वेद, मुख का लाल होना, पैर पटकना आदि इसके अनुभाव और अमर्ष, मद, स्मृति उग्रता, आवेग आदि इसके सहायक संचारी भाव हैं।

(८) करुण रस—इस रस का स्थायी भाव शोक है। इष्टनाश अथवा अनिष्टागमन आदि इसके विभाव; निःश्वास, रुदन, प्रलाप आदि इसके अनुभाव और निद्रा, अपस्मार, दैन्य, मरण आदि इसके संचारी भाव होते हैं।

(९) शान्त रस—इस रस का स्थायी भाव शम है। संत-समागम तीर्थाटन, शरीर की क्षण-भंगुरता आदि इसके विभाव; तल्लीनता, रोमाच, परमानन्द की अवस्था आदि इसके अनुभाव और मति, चिन्ता, धृति, स्मृति, हर्ष आदि इसके सचारी भाव हैं।

उपर्युक्त नौ रसों के अतिरिक्त एक दसवाँ रस वात्सल्य भी है। बालक-बालिकाओं के प्रति माता-पिता अथवा अन्य लोगों का जो सहज आकर्षण होता है वही इस रस को जन्म देता है। हँसना, किलकारी मारना, चलना, बोलना आदि इसके उद्दीपन विभाव और हाथ फैलाकर उन्हें उठा लेना, उनका चुंबन करना, उन्हें खिलाना आदि इसके अनुभाव हैं। *भरत मुनि ने इन दस रसों में से केवल आठ रसों को माना है।* उनके अनुसार चार रस मुख्य और चार गौण होते हैं। शृंगार, वीर, वीभत्स, और रौद्र मुख्य रस हैं। *शृङ्गार* से हास्य का, वीर से अद्भुत का, वीभत्स से भयानक का और रौद्र से करुण का संबन्ध रहता है। अतएव हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण गौण रस हैं। आजकल *यह मत मान्य नहीं है।*

हम अभी बता चुके हैं कि रस के परिपाक के लिए स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव तथा अनुभाव की परम आवश्यकता होती है, पर इनके होते हुए भी कभी-कभी रस-परिपाक नहीं होता। इसके निम्न कारण हो सकते हैं :—

(१) *जब विभाव, अनुभाव आदि अन्य सामग्री के प्रबल न होने* के कारण स्थायी भाव अंकुरित होकर ही रह जाता है तब रस का परिपाक नहीं होता। इसे **भावोदय** कहते हैं।

(२) जब एक भाव के उदय होते ही दूसरा भाव उदय होकर उसे

दबा देता है और स्वयं प्रबल हो जाता है तब रस का परिपाक नहीं होता। इसे भाव-शांति कहते हैं।

(३) जब एक भाव मन को एक ओर खींचता है और दूसरा दूसरी ओर तथा इन दोनों में से कोई इतना प्रबल नहीं हो पाता कि दूसरे को दबा सके तब रस का परिपाक नहीं होता। इसे भाव-संधि कहते हैं।

(४) जब कई भाव एक ही साथ उदय होते हैं और अपने से पूर्व के भाव को दबाते चलते हैं तब रस का परिपाक नहीं होता। इसे भाव-शबलता कहते हैं।

रसों के संबंध में एक बात और जान लेना आवश्यक है। कुछ रस स्वभाव से ही आपस में विरोधी होते हैं। इनकी सूची इस प्रकार है :—

(१) करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक शृङ्गार रस के विरोधी होते हैं।

(२) करुण और भयानक हास्य के विरोधी होते हैं।

(३) भयानक और शांत वीर रस के विरोधी होते हैं।

(४) शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शांत भयानक रस के विरोधी होते हैं।

(५) शृङ्गार वीभत्स का विरोधी होता है।

(६) रौद्र अद्‌भुत का विरोधी होता है।

(७) शृंगार, रौद्र, वीर, हास्य और भयानक शांत रस के विरोधी होते हैं।

इस सम्बन्ध में हमें इतना ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक दशा में विरोधी रसों का एक साथ वर्णन सदोष नहीं होता। दोष तभी होता होता है जब *विरोधी रस एक ही आलंबन अथवा एक ही आश्रय से* संबंध रखते हैं। इन दोनों दशाओं को स्थिति-विरोध कहते हैं। जब विरोधी रस इतने सन्निकट आ जाते हैं कि एक-दूसरे के ज्ञान में बाधक होते हैं तब ज्ञान-विरोध होता है। एक साथ दो विरोधी रसों को लाने के लिए नाटककारों को उक्त बातों पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती है।

४. अभिनय

अभिनय रूपक का चौथा तत्त्व माना गया है। यद्यपि यह कथा-वस्तु, पात्र और रस के अन्तर्गत आ जाता है, तथापि इसकी पृथक् व्याख्या कर देना कला की दृष्टि से उपयुक्त जान पड़ता है। वास्तव में यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो अभिनय ही रूपक का मुख्य अंग है। साधारणतः नाटकीय वस्तु की अभिव्यक्ति को अभिनय कहते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से अभिनय शब्द 'णीञ्' धातु से बना है जिसका अर्थ है—पहुँचाना। रूपक में *जिस साधन-द्वारा नाटकीय वस्तु अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति की* ओर पहुँचायी जाती है उसे अभिनय कहते हैं। अभिनय चार प्रकार का होता है:—(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) आहार्य और (४) सात्विक। इनका वर्णन इस प्रकार है :—

(१) आंगिक अभिनय—अंगों-द्वारा संपादनीय अभिनय आंगिक अभिनय कहलाता है। इसका सम्बन्ध शरीर के विभिन्न अंगों से रहता है। इसके तीन भेद हैं:—**(१) शारीर, (२) मुखज, (३) चेष्टाकृत।** शरीर के विभिन्न अंगों का हिलाना-डुलाना आदि **शारीर**; मुख-चेष्टा-द्वारा अभिनय **मुखज** और तैरने, घुड़सवारी करने तथा पतंग उड़ाने आदि का अभिनय करना **चेष्टाकृत** कहलाता है। रस के परिपाक में इस प्रकार के अभिनयों से बड़ी सहायता मिलती है।

(२) वाचिक अभिनय—वाणी से कहकर किया जानेवाला अभिनय वाचिक अभिनय कहलाता है। इस प्रकार के अभिनय में पात्र वाणी द्वारा उन व्यक्तियों का अनुकरण करते हैं जिनका वेश धारण करके वे रंग-मंच पर आते हैं। दास का रूप धारण करनेवाला दास की वाणी में और राजा बनकर आनेवाला राजा की वाणी में अभिनय करता है। *इस प्रकार कथोपकथन-सम्बन्धी सब निर्देश वाचिक अभिनय के अन्तर्गत* आते हैं।

(३) आहार्य अभिनय—वेश-भूषा के अनुकरण को आहार्य अभिनय कहते हैं। इस प्रकार के अभिनय में देश-काल का ध्यान

रखना आवश्यक होता है। अशोक को कोट-पतलून में दिखाना असंगत ही होगा। इसी प्रकार पात्रों की योग्यतानुसार उनके वर्ण और वस्त्र पर ध्यान देना आवश्यक है।

(४) सात्विक अभिनय—सात्विक भावों को प्रदर्शित करनेवाला अभिनय सात्विक अभिनय कहलाता है। स्वेद, रोमाच, कंप, स्तंभ, और अश्रु-प्रवाह आदि द्वारा अवस्था का अनुकरण सात्विक अभिनय माना गया है। यद्यपि इस प्रकार के अभिनय में कायिक सहयोग रहता है, तथापि अभिनय की दृष्टि से इसकी स्वतंत्र सत्ता है। सात्विक अभिनय में केवल सात्विक भावों का अभिनय होता है, कायिक में शरीर और भाव दोनों का। सात्विक भावों का अभिनय सरल नहीं है।

अभी जिन चार प्रकार के अभिनयों का वर्णन किया गया है उनका वास्तविक होना परम आवश्यक है। जबतक दर्शक के हृदय में उनकी वास्तविकता सिद्ध नहीं होती तबतक रस का परिपाक नहीं होता और जबतक रस का परिपाक नहीं होता तबतक अभिनय सफल नहीं समझा जाता। अतः रूपक की सफलता की दृष्टि से अभिनेता के लिए यह परम आवश्यक है कि वह अपने सामने बैठे हुए लोगों के हृदय पर इस बात की छाप लगा दे कि वह जो कुछ दिखा रहा है वह सत्य और वास्तविक है, कृत्रिम नहीं। अभिनेता और अभिनय की सफलता का यही रहस्य है।

रूपक के उपकरणों में अभिनय के अन्तर्गत नृत्य और नृत पर भी विचार किया गया है। किसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए व्यक्ति-विशेष के अनुकरण को नृत्य कहते हैं। इसमें आंगिक अभिनय की अधिकता रहती है। अभिनय-रहित केवल नाचने को नृत कहते हैं। नृत दो प्रकार का होता है—(१) तांडव और (२) लास्य। लक्षण ग्रन्थों के अनुसार तांडव का आविष्कार शिव ने और लास्य का पार्वती ने किया है। तांडव का प्रधान गुण उद्धतता और लास्य का मधुरता है। इनका रूपकों से विशेष सम्बन्ध नहीं रहता।

रूपक का अन्तिम तत्त्व है वृत्ति। इसका साधारण अर्थ है—बरताव, काम अथवा ढंग। नाट्य-शास्त्र में पात्रों आदि के विशेष प्रकार के बरताव अथवा कार्य-शैली को वृत्ति कहते हैं। साहित्य-दर्पण के टीकाकार ने रसास्वाद के प्रधान कारण को वृत्ति माना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि रूपक के पात्र अपने चारों प्रकार के अभिनय तथा प्रसंगानुकूल दृश्यों में नाटकीय रस के परिपाक के सहायतार्थ जो विशेषता उत्पन्न करते हैं उसे वृत्ति कहते हैं। इसीलिए भरत-मुनि ने वृत्तियों को नाट्य की माताएँ माना है। वृत्तियाँ चार होती हैं :—(१) भारती, (२) सात्वती (३) आरभटी और (४) कौशिकी। इनमें पहली शब्द-वृत्ति और शेष तीन अर्थवृत्ति कहलाती हैं। इन चारों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :—

५. वृत्तियाँ

(१) भारती वृत्ति—इसकी उत्पत्ति ऋग्वेद से मानी गयी है। इसका सम्बन्ध केवल नटों अथवा भरतों से रहता है, इसलिए इसे भारती वृत्ति कहते हैं। इसमें स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। यह शब्द-वृत्ति होती है। इसमें संस्कृत भाषा के वाक्यों तथा वाचिक अभिनय की प्रधानता रहती है। साहित्य-दर्पणकार का मत है कि यह सब रसों में काम आती है, पर भरत-मुनि ने इसका सम्बन्ध करुण तथा अद्भुत से और भारतेन्दु ने केवल वीभत्स से माना है। रूपक के प्रारम्भिक कृत्यों में ही यह मुख्यतः पायी जाती है।

(२) सात्वती वृत्ति— इसकी उत्पत्ति यजुर्वेद से मानी गयी है। इसका सम्बन्ध शौर्य, दया, दान, दाक्षिण्य आदि सात्विक भावों से रहता है। इसमें वीरोचित कार्य रहते हैं जिससे आनन्द की वृद्धि होती है। इसका सम्बन्ध वीर रस से है, पर इसमें थोड़ा रौद्र और अद्भुत का भी समावेश रहता है।

(३) आरभटी वृत्ति—इसकी उत्पत्ति सामवेद से मानी गयी है। इसमें संग्राम, क्रोध, माया, इन्द्रजाल, छल और संघर्ष आदि दिखाया जाता है। इसका प्रयोग रौद्र रस में होता है।

(४) कौशिकी वृत्ति—इसकी उत्पत्ति अथर्ववेद से मानी गयी है। और इसका सम्बन्ध गीत, नृत्य, विलास, रति आदि से रहता है। इसमें स्त्रियों के व्यापार भी सम्मिलित होते हैं। इन्हीं कारणों से यह मधुर वृत्ति मानी गयी है। इसका प्रयोग शृङ्गार और हास्य में होता है।

रूपक के प्रारंभिक अंग

यहाँ तक हमने रूपक के तत्वों पर विचार किया है। अब हम रूपक-रचना के कुछ अन्य आवश्यक अंगों पर विचार करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे। हम यह अन्यत्र बता चुके हैं कि हमारे यहाँ प्रत्येक कार्य को, चाहे वह सामाजिक हो अथवा साहित्यिक, धर्म का रूप दिया गया है। रूपक है तो एक साहित्यिक कृति, पर उस पर भी आदि से अन्त तक धर्म का आवरण चढ़ा हुआ है। धार्मिक कृत्य हमारे जीवन और साहित्य के मुख्य अंग हैं। हमारे नाट्य-शास्त्रों में उन सभी धार्मिक कृत्यों का सविस्तर वर्णन मिलता है जिनका करना रूपक की मुख्य कथा का आरंभ करने के पूर्व आवश्यक है। ऐसे कार्यों को नाट्य-शास्त्र में पूर्व-रङ्ग कहते हैं। इनका उद्देश्य है—रंगशाला के विघ्नों को दूर करना। भरत मुनि के अनुसार सबसे पहले नगाड़ा बजाकर लोगों को नाटकारंभ की सूचना दी जाती है। इसके अनन्तर गानेवाले और बाजा बजाने-वाले आदि रंग-मंच पर आकर अपने यंत्र आदि को ठीक करते और उनके सुर आदि मिलाकर उन्हें बजाते हैं। बाजा बजने के साथ ही सूत्रधार रंग-मंच पर फूल छिड़काता हुआ आता है। उसके साथ एक सेवक जल-पात्र और दूसरा इन्द्र-ध्वजा लिए रहता है। सूत्रधार जल-पात्र से जल लेकर अपने को पवित्र करता है और फिर इन्द्र-ध्वजा लेकर टहलता हुआ स्तुति-पाठ करता है। इस स्तुति-पाठ को नांदी कहते हैं। इसके पश्चात् वह उस देवता की स्तुति करता है जिससे नाटक का सम्बन्ध रहता है। नांदी के पश्चात् रङ्ग-द्वार नामक कृत्य का आरंभ होता है। इसमें नाटक के आरम्भ की सूचना होती है। सूत्रधार श्लोक का पाठ और इन्द्र-ध्वजा की वन्दना करता है। इसके पश्चात् पार्वती

और भूतों को प्रसन्न करने के लिए नृत्य होता है। अन्त में सूत्रधार और विदूषक आदि आपस में बातें करके रंग-मंच से चले जाते हैं।

रंग-मंच से सूत्रधार के चले जाने के पश्चात् स्थापक का प्रवेश होता है। स्थापक की वेश-भूषा सूत्रधार के ही समान होती है। वह अपनी वेश-भूषा से इस बात की सूचना देता है कि जो रूपक आरम्भ होनेवाला है उसका सम्बन्ध देवताओं से है अथवा मनुष्यों से। वह सुन्दर छन्दों में देवताओं आदि की वन्दना करता है और रूपक तथा उसके रचयिता के संबंध में कहकर रूपक का आरम्भ करा देता है। इन कृत्यों में भारती वृत्ति का प्रयोग होता है।

रूपक में पात्रों की भाषा

रूपक-रचना में वृत्तियों का जो स्थान है उससे भाषा का घनिष्ट संबंध है। रूपकों में पात्रों की भाषा कैसी होनी चाहिए—इस प्रश्न पर भी हमारे प्राचीन नाटककारों ने विचार किया है। उनका कहना है कि रूपक में पात्रों की भाषा उनके गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार होनी चाहिए। ऐसा करने का उद्देश्य स्वाभाविकता का परिपालन मात्र था। इसके अनुसार यह नियम बना दिया गया था कि जो पात्र जिस वर्ग का हो वह उसी वर्ग की भाषा का प्रयोग करे। उस समय की प्रधान भाषाएँ थीं :—संस्कृत और प्राकृत। उच्च पुरुषों, संन्यासिनियों, महारानियों और कहीं-कहीं वेश्याओं को भी संस्कृत में बोलने का विधान मिलता है। प्राकृत के अनेक भेद और उपभेद गिना कर उनके प्रयोगों के भी नियम दिये गये हैं। साधारण स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलने का आदेश दिया गया है। मध्यम और अधम लोगों को शौर सेनी, नीचों को मागधी, राक्षसों तथा पिशाचों को पैशाची और चांडालों आदि को अपभ्रंश भाषा में बोलने का विधान मिलता है। प्रयोजन के अनुसार उत्तम पात्रों की भाषा में परिवर्तन करने का नियम है। कथोपकथन में छोटे, बड़े और बराबरवालों के प्रति किन शब्दों का प्रयोग करना चाहिए, इसका भी सविस्तर विधान मिलता है।

: ४ :

हिन्दी-नाटकों का इतिहास और विकास

पिछले अध्याय में हम बता चुके हैं कि दसवीं शताब्दी से संस्कृत नाटकों की रचना का ह्रास आरंभ होता है। लगभग यही समय हिन्दी के उत्थान का भी है। धीरे-धीरे हिन्दी ने संस्कृत का स्थान किस प्रकार ग्रहण कर लिया--इस प्रश्न पर विचार करना हमारा मंतव्य

हिन्दी-नाटकों का अभ्युदय

नहीं है। हमें तो, संक्षेप में, यह देखना है कि संस्कृत के पश्चात् हिन्दी में नाटकों का आरंभ कब और किस प्रकार हुआ? इस प्रश्न का उचित उत्तर देने के लिए हमें हिन्दी-साहित्य की प्रगति पर विचार करना होगा। हम यह तो जानते ही हैं कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास वीर-गाथा-काल से आरंभ होता है। यह काल सं० १०५० से आरंभ होकर सं०१३७५ तक समाप्त हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस काल का विशेष महत्त्व है। भारतीय इतिहास में यह काल बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक संघर्षों के लिए प्रसिद्ध है। सम्राट् हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के ध्वंसावशेष पर जिन छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों का उत्तरापथ में निर्माण हुआ उनकी पारस्परिक द्वेष-भावना ही इस काल की जननी है। इसी काल में मुसलमानों के आक्रमण भी हुए। ऐसे अशान्त वातावरण में साहित्य-निर्माण का कार्य केवल चारणों तक ही सीमित रहा। चारण दरबारी कवि थे। वे अपने आश्रय-दाताओं के वीरतापूर्ण कार्यों की प्रशंसा में कविताएँ किया करते थे। कभी-कभी अपने आश्रय-दाताओं के साथ वे युद्ध-स्थल में भी जाते थे और अपनी वाणी के अतिरिक्त अपनी तलवार से भी उनका उत्साह बढ़ाते थे। उस समय

गद्य का सर्वत्र अभाव था। ऐसे राजनीतिक एवं साहित्यिक वातावरण में नाटक-रचना के लिए किसी कक्ष से भी प्रोत्साहन मिलने की आशा नहीं थी।

वीर-गाथा-काल के पश्चात् हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भक्त-काल का प्रादुर्भाव हुआ। यह काल सं० १३७५ से सं० १७०० तक रहा। इस काल में भी राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों की विषमता के कारण हिन्दू-भावना की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप केवल संत, सूफी और भक्त-कवियों की रचनाओं का प्रचार हुआ। कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की वाणी ने तत्कालीन जनता और साहित्यकारों को अपनी ओर इतना अधिक आकृष्ट कर लिया कि उनमें से किसी का भी नाटक-रचना की ओर ध्यान ही नहीं गया।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का रीति-काल भी नाटक-रचना के उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सका। यह काल सं० १७०० से सं० १९०० तक रहा। इसमें सन्देह नहीं कि इस काल में मुसलमानों की विरोधी-नीति में बहुत-कुछ परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे वे भी राजपूत-राजाओं की भाँति विलास-प्रिय हो गये, पर उनसे साहित्य के इस अंग की पूर्ति नहीं हो सकी। मुसलिम-साहित्य में नाटक के लिए कोई स्थान ही नहीं था। संस्कृत सीमित और संकुचित होकर ब्राह्मणों की सम्पत्ति बन गयी थी; फारसी में नाटक-साहित्य का अभाव था; उर्दू अपने शैशव काल में थी; ब्रज का बोलबाला था, पर उसका गद्य नाटक-रचना के लिए उपयुक्त नहीं था; हिन्दी-गद्य की रूप-रेखा अभी निश्चित ही नहीं हुई थी; कविता-कामिनी विलास-प्रिय नरेशों के दरबारों का शृङ्गार कर रही थी और कवि तथा साहित्यकार उसे विविध प्रकार के अलंकारों से सजाकर वाहवाही लूट रहे थे। ऐसी दशा में नाटक लिखता भी तो कौन लिखता! पर इन बाधाओं के होते हुए भी कुछ नाटक लिखे गये। बिहार के साहित्य-प्रेमियों ने संस्कृत नाटकों की परम्परा की रक्षा की। मैथिल कोकिल विद्यापति ठाकुर, लालझा, भानुनाथ, हर्षनाथ झा आदि के नाटक संस्कृत-परम्परा में ही मिलते हैं।

अब रहा आधुनिक काल। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इस काल का प्रादुर्भाव सं० १६०० से हुआ। भारतीय इतिहास में यह वह समय था जब धीरे-धीरे मुगल-साम्राज्य का पतन और अँगरेजों का उत्कर्ष आरम्भ हो रहा था। अँगरेजों ने भारत में बम्बई के द्वार से प्रवेश किया और धीरे-धीरे उन्होंने दक्षिण तथा पूर्व भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। वे व्यापारी होने के साथ-साथ राजनीति-कुशल भी थे। उन्होंने यहाँ की जनता और यहाँ के नरेशों से एक साथ संपर्क स्थापित किया। जनता के सम्पर्क में आने से जहाँ उन्हें अपनी भाषा और अपने साहित्यिक एवं राजनीतिक विचारों का प्रचार करने का अवसर मिला, वहाँ तत्कालीन साहित्यकारों को भी अपने साहित्य की त्रुटियों को समझने-बूझने का अवसर मिला। ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित होने पर भारत में जब अँगरेजी शिक्षा का प्रचार हुआ और अँगरेजों तथा भारतीयों ने एक दूसरे की भाषा एवं साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया तब पहले-पहल बंबई तथा मद्रास में अँग्रेजी और भारतीय विचार-धाराओं के संघर्ष के फलस्वरूप एक नयी चेतना, एक नये साहित्यिक वातावरण का उदय हुआ। फलतः इस नई लहर से साहित्य के विभिन्न अंगों को जहाँ स्फुरण मिला वहाँ नाटक भी अछूता न रह सका। उस समय मराठी और गुजराती साहित्य में अच्छे-अच्छे नाटक लिखे गये। धीरे-धीरे यही लहर बङ्गाल में पहुँची और बङ्गला भाषा में भी कई सुन्दर नाटकों की रचना हुई। कालान्तर में बिहार और उत्तर प्रदेश के साहित्यकारों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। हिन्दी के पास संस्कृत की नाट्य-परम्परा थी, पर उससे उसने कुछ भी ग्रहण नहीं किया। बङ्गला के नाटक ही हिन्दी-नाटकों के पथ-प्रदर्शक बन गये। हिन्दी में कई बङ्गला-नाटकों का अनुवाद हुआ। उनकी देखा-देखी कई संस्कृत-नाटक भी हिन्दी में अनूदित हुए और कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये। इस प्रकार हिन्दी में नाटक-रचना का एक नवीन युग आरम्भ हो गया जिसका विकसित रूप आज हमारे सामने है।

परन्तु नाटक-रचना के मार्ग में अभी बड़ी-बड़ी बाधाएँ थीं। हिंदी का अपना कोई रंग-मंच नहीं था। रंग-मंच की सुविधा, विकास एवं उन्नति ने जहाँ सोलहवीं शताब्दी में ही शेक्सपियर को जन्म देकर पाश्चात्य नाट्य-कला को चरम सीमा तक पहुँचा दिया था वहाँ हिन्दी-साहित्य के पास प्राचीन परम्परा के होते हुए भी तत्सम्बन्धी कोई साधन उन्नीसवीं शताब्दी तक उपलब्ध नहीं हो सका। भारत के अज्ञात-पूर्ण राजनीतिक वातावरण में प्राचीन-काल के प्रेक्षागृह नष्ट हो चुके थे। उनके स्थान पर भारतीय शैली के नये प्रेक्षागृह बनने की विशेष सभावना नहीं थी। अँगरेजों के आगमन से प्लासी-युद्ध (सन् १७५७) के भी पहले कलकत्ता में अँगरेजी-शैली के अनुसार एक प्रेक्षागृह का निर्माण हुआ था। कहते हैं, सिराजुद्दौला ने सन् १७५६ ई० में इसी प्रेक्षागृह की छत से अँगरेजों पर अग्नि-वर्षा की थी। इसके अनन्तर सन् १७७६ ई० में वहाँ दूसरा प्रेक्षागृह खोला गया था। बम्बई में भी नाट्य-शालाएँ खोली गयी थीं। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग में भी कलकत्ता में कई आधुनिक शैली की रंगशालाओं का निर्माण हुआ। इन रङ्गशालाओं में बङ्गला-नाटकों का प्रदर्शन हुआ जिससे बङ्गला-भाषा में नाटक-रचना का प्रचार हिन्दी से बहुत पहले हो गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कलकत्ता जाकर जब बङ्गला-नाटकों तथा रंगशालाओं का उन्नत रूप देखा तब उन्हें हिन्दी की शोचनीय दशा पर बहुत दुःख हुआ। कलकत्ता से लौटने के पश्चात् उन्होंने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया। उनके जीवन-काल में कई रंगशालाओं की स्थापना हुई और बड़ी चहल-पहल रही, पर उनके आँख बंद करते ही उनका प्रभाव नष्ट हो गया। आज भी हिंदी-प्रेक्षागृहों के अभाव के कारण नाटक-रचना में विशेष बाधाएँ मिल रही हैं।

हिन्दी-नाटक-रचना में बाधाएँ

हिन्दी-नाटक निर्माण में दूसरी बाधा थी अभिनेताओं की सामाजिक स्थिति के कारण। सुन्दर नाट्य-साहित्य के प्रणयन, संवर्द्धन एवं विकास

के लिए रङ्गशालाओं की ही नहीं, अपितु उच्च कोटि के शिक्षित, सभ्य और सदाचारी अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की भी आवश्यकता होती है। अभिनेताओं के अभाव में रंगशालाओं का, और रंगशालाओं के अभाव में नाटकों का महत्त्व विद्यार्थियों के पाठ्य-क्रम के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। भारत में अभिनेताओं का अभाव प्राचीन काल से ही रहा है। प्राचीन-काल में अर्द्ध-शिक्षित और निम्नकोटि के व्यक्ति, जो नट कहलाते थे, घूम-घूमकर अपनी अभिनय-कला का प्रदर्शन करते थे, पर ज्यों-ज्यों रंगशालाओं की लोक-प्रियता बढ़ी त्यों-त्यों कुलीन और शिक्षित व्यक्तियों ने भी अभिनय-कला में भाग लेना आरंभ किया और उनके सहयोग से नाट्य-साहित्य अपनी चरम सीमा पर पहुँचा, परन्तु संस्कृत-नाटक-रचना का ह्रास होने पर जब रंगशालाएँ समाप्त हो गयीं तब अभिनेता भी समाप्त हो गये और उनके स्थान पर कालान्तर में धार्मिक प्रेरणा के फलस्वरूप रामलीला तथा कृष्णलीला और लोकरंजन की भावना के फलस्वरूप स्वांग आदि की व्यवस्था हुई। इन समस्त खेलों में साधारण स्थिति के लोग ही असाहित्यिक ढंग से अपनी अभिनय-कला का प्रदर्शन करते थे। भारतेन्दु के पूर्व कदाचित् किसी नाटक का अभिनय नहीं हुआ। उनके समय में उनके प्रयत्न एवं सहयोग से कई नाटकों के अभिनय हुए जिनमें उन्होंने स्वयं भाग लेकर अभिनेताओं की सामाजिक स्थिति एवं लोक-रुचि में सुधार करने की ओर संकेत किया, पर आगे चलकर इसका स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में नाटकों की न्यूनाधिक लोक-प्रियता बढ़ने पर जब पारसी नाटक-कंपनियों का प्रादुर्भाव हुआ तब उनमें ऐसे व्यक्तियों ने ही अभिनेताओं का कार्य करना आरम्भ किया जिनकी सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। नाटकों के अभिनय में भाग लेना उच्च कुल के शिक्षित एवं साहित्यिक व्यक्ति निन्दा और अपवाद का कारण समझते थे। आज सिनेमा के प्रचार के कारण अभिनेताओं की सामाजिक स्थिति और लोक-रुचि में विशेष परिवर्तन हो गया है और

धीरे-धीरे सुशिक्षित व्यक्ति भी अभिनेताओं का जीवन अपना रहे हैं। ऐसी दशा में यदि रंगशालाओं का निर्माण आरंभ हो जाय और उनके रंग मंच से हिन्दी-नाटकों का अभिनय होने लगे तो निस्सन्देह हिन्दी-नाटक-रचना को यथेष्ट बल मिलेगा और हिन्दी का नाट्य-साहित्य लोकप्रिय हो जायगा।

हमने अभी नाटक-निर्माण में जिन दो बाधाओं का उल्लेख किया है उनके रहते हुए भी यदि हिन्दी-गद्य की अभिव्यंजना-शक्ति प्रबल होती तो हिन्दी-नाट्य-साहित्य का विकास हो सकता था। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी-गद्य का स्वरूप इतना अविकसित, अपरिपक्व और अभि-व्यंजना-शक्तिहीन था कि उसमें नाटक-रचना हो ही नहीं सकती थी। भारतेन्दु ने अपने सतत् परिश्रम से इस अभाव की पूर्ति की। उन्होंने तत्कालीन हिंदी-गद्य को बहुत से दोषों से मुक्त किया, उसे नाटकीय भाषा के अनुकूल बनाया और उसमें स्वयं रचना करके दूसरों का पथ-प्रदर्शन किया। इससे नाटक-निर्माण में बड़ी सहायता मिली, पर जो श्रोज और माधुर्य नाटकीय भाषा के लिए वाञ्छनीय है उसका अभाव बना ही रहा। कालान्तर में प्रसाद ने इस अभाव की पूर्ति की और तब से हिन्दी-नाटकों में जिस भाषा को स्थान मिला वह अभिनेताओं के भावों को व्यक्त करने में समर्थ हो सकी। आज के नाटकों में गद्य का जो प्रौढ़ रूप देखने को मिलता है वह कई कलाकारों के सतत् परिश्रम का परिणाम है।

पर उपर्युक्त बाधाओं के रहते हुए भी रचनाएँ हुई हैं और हो सकती हैं। प्रश्न उठता है कि फिर नाटक क्यों नहीं लिखे गये? इस प्रश्न का उचित उत्तर देने के लिए हमें उस युग की मानसिक प्रवृत्तियों पर विचार करना होगा और यह देखना होगा कि उनमें नाटकीय रचना के तत्व थे अथवा नहीं। नाटकीय-रचना के दो तत्व हैं—एक तो जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण और दूसरा इस दृष्टिकोण का व्यक्तित्व-हीन अभिव्यंजन। तत्कालीन साहित्य और इतिहास के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि उस युग में इन दोनों तत्वों का मुख्यतः अभाव था। शताब्दियों की दासता, विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों तथा कर्मवाद आदि

दार्शनिक सिद्धान्तों ने उस समय के सामाजिक जीवन को गति-हीन बना दिया था। वेदों, उपनिषदों तथा इसी प्रकार के अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थों ने हमारा मानसिक और आत्मिक स्तर इतना ऊँचा कर दिया था कि हम संसार की वस्तु ही नहीं रह गये थे। जीवन के प्रति उदासीनता का एक कारण तत्कालीन क्षुब्ध और अशान्त राजनीतिक वातावरण भी था जिसने हमें नियतिवादी बना दिया था। कहने का तात्पर्य यह कि उस युग में कई ऐसे कारण संगठित हो गये थे जिनके फलस्वरूप हम गतिशील होने की अपेक्षा चिन्तनशील हो गये, समाज से हमारा नाता टूट-सा गया और व्यक्तिगत साधना हमारे जीवन का लक्ष्य बन गयी। इस प्रकार जीवन का संतुलन बिगड़ गया, हमारा व्यक्तित्व निर्बल और निष्प्राण हो गया। कभी हमने भक्ति के आवेश में आत्म-समर्पण किया और संतों की ज्ञानभरी वाणी सुनकर असार-संसार से मुक्त होने और मोक्ष प्राप्त करने की चिंता की। ऐसी परिस्थिति में नाटक-रचना की चिंता होती भी तो किसे होती और क्यों? व्यक्तित्व-प्रधान जीवन से काव्य को प्रेरणा मिलती है, नाटक को नहीं। नाटक जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण का व्यक्तित्व-रहित अभिव्यंजन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक-रचना के लिए वह युग सर्वथा अनुपयुक्त ही था। अंगरेजों के संपर्क में आने के पश्चात् जब हमारे जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ, तब हमने व्यक्तिगत साधना के स्थान पर सामाजिक जीवन का महत्त्व समझा और जब हमारी धार्मिक एवं दार्शनिक परंपराएँ बुद्धिवाद में परिणत होने लगीं तब अन्य लोकोपयोगी साहित्य के साथ नाटक-रचना के लिए भी अनुकूल वातावरण मिला जिसके फलस्वरूप हिन्दी-नाट्य-साहित्य में भारतेन्दु-काल का आविर्भाव हुआ। इस काल में जीवन के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण के साथ-साथ उन सभी दोषों का परिहार हो गया है जो नाट्य-साहित्य के विकास में बाधक हो रहे थे। आज का नाट्य-साहित्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से अपनी सामग्री एकत्र कर रहा है और उसमें नयी-नयी उद्भावनाएँ हो रही हैं।

हिन्दी-नाट्य-साहित्य का इतिहास

हमने अभी कहा है कि हिन्दी-नाटकों का अभ्युदय भारतेन्दु-काल से आरम्भ होता है। भारतेन्दु-काल के पूर्व हमें जो हिन्दी-नाट्य-साहित्य मिलता है वह नाट्य-कला की दृष्टि से नहीं, वरन् ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। आधुनिक खोजों से हिन्दी-नाटकों का सूत्रपात लगभग सत्तरहवीं शताब्दी के अन्तिम पूर्वार्द्ध से माना जाता है। अतएव उस काल से अबतक के कुल समय को विकास-क्रम की दृष्टि से हम पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) भारतेन्दु के पूर्व का नाट्य-साहित्य···(१६४३-१८६६)
(२) भारतेन्दु-काल का नाट्य-साहित्य······(१८६७-१६०४)
(३) सन्धि-काल································(१६०५-१६१५)
(४) प्रसाद-काल का नाट्य-साहित्य·········(१६१५-१६३३)
(५) आधुनिक काल का नाट्य-साहित्य······(१६३४—)

[१] भारतेन्दु के पूर्व का नाट्य-साहित्य (१६४३-१८६६)—भारतेन्दु के पूर्व के नाट्य-साहित्य का आरम्भ सत्तरहवीं शताब्दी के अन्तिम पूर्वार्द्ध भाग से माना जाता है। उस समय से भारतेन्दु के उदय तक हमें जो हिन्दी का नाट्य-साहित्य मिलता है उसे हम दो धाराओं में विभाजित कर सकते हैं:—(१) अनूदित और (२) मौलिक। अनूदित नाटकों में कुछ तो नाटकीय काव्य हैं और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित नाटक। बनारसी दास जैन-द्वारा अनूदित **समयसार** नाटक और हृदय राम उपनाम 'राम'-द्वारा अनूदित **हनुमन्नाटक** आदि नाटकीय काव्य हैं। मौलिक नाटकीय-काव्यों में प्राणचंद चौहान-कृत 'रामायण महानाटक' तथा कृष्णजीवन लछीराम-कृत 'करुणाभरण' आदि की गणना की जाती है। प्रायः देखा गया है कि प्रत्येक साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति इसी प्रकार के नाटकीय काव्यों से हुई है। कलात्मक दृष्टि से तत्कालीन अनूदित नाटकों में **प्रबोध-चन्द्रोदय** का सर्वप्रथम स्थान है। यह संस्कृत के प्रबोध-चन्द्रोदय का अनुवाद है और इसके

साहित्य का शिलान्यास किया। इस कार्य में उन्हें बँगाल के नाटककारों से भी प्रेरणा मिली। इस समय बङ्गला के नाटकारों में रामनारायण तर्क-रत्न, माइकेल मधुसूदन दत्त और दीनबन्धु मित्र की अच्छी ख्याति थी। भारतेन्दु का उन सबसे परिचय था। अँगरेजी नाट्य-साहित्य से भी उनका सम्पर्क स्थापित हो चुका था। इस प्रकार भारतेन्दु ने अपने समय में जिस नाट्य-साहित्य को जन्म दिया उस पर एक साथ सब का प्रभाव पड़ा और उसी के सुन्दर समन्वय में उनकी कला का विकास हुआ। उनके समकालीन श्रीनिवास दास, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, राधा कृष्णदास, केशवराम भट्ट आदि के नाटकों की बड़ी धूम थी। उनकी रचनाओं के विषय भिन्न-भिन्न प्रकार के थे और उनमें प्रतिष्ठित शैलियों और विचार-धाराओं का संपूर्ण विकास हुआ था। कई बातों में आज भी उनके नाटक हमारे पथ-प्रदर्शक हैं। उनमें पौराणिक आख्यानों, ऐतिहासिक चरित्रों एवं घटनाओं, धार्मिक राष्ट्रीय तथा सामाजिक समस्याओं आदि के चित्रण के साथ-साथ सामयिक विषयों की आलोचना भी प्रहसन के रूप में मिलती है। पौराणिक धारा के अन्तर्गत रामचरित सम्बन्धी कई नाटक लिखे गये, पर उनमें नाट्य-कला का अच्छा विकास नहीं हुआ। कृष्ण-चरित और तत्सम्बन्धी लीलाओं को भी लेकर नाटकों की रचना हुई। इन रचनाओं में 'हरिऔध' के दो नाटकों 'प्रद्युम्न-विजय' (१८९३) और 'रुक्मिणी-परिणय' (१८९४) को अच्छी ख्याति मिली। राधाचरण गोस्वामी का 'श्रीदामा' (१९०४) भी कला की दृष्टि से उत्कृष्ट सिद्ध हुआ। अन्य पौराणिक आख्यान सम्बन्धी नाटकों में 'दमयन्ती-स्वयंवर' को अच्छा स्थान मिला। ऐतिहासिक एवं अन्य धाराओं में पौराणिक धारा की अपेक्षा कम रचनाएँ हुई। ऐतिहासिक धारा में मुख्यतः भारतेन्दु ने ही नाटक लिखे। सामाजिक धारा के अन्तर्गत भारतेन्दु-काल में जिन विषयों को नाटक का रूप दिया गया उनमें बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, पाखंड, नारी-जीवन की कतिपय समस्याओं तथा तत्कालीन आचार-विचारों आदि को प्रधानता मिली।

गो-रक्षा और गो-वध की समस्या को लेकर भी कुछ नाटक लिखे गये। प्राचीन प्रथाओं और विचारों के खंडन-मंडन में भी कई नाटकों की रचना हुई। प्रेम-प्रधान नाटकों में तत्कालीन नाटककारों की प्रतिभा का अच्छा विकास हुआ। उस समय के नाटककारों के लिए यह एक नवीन सामाजिक विषय था और स्वयं भारतेन्दु ने इस धारा का पथ-प्रदर्शन किया था। इस धारा में भारतेन्दु-कृत 'विद्या-सुन्दर', श्रीनिवासदास-कृत 'प्रेममोहिनी' आदि का प्रमुख स्थान है। ये सुखान्त नाटक हैं। दुखान्तों में श्रीनिवासदास-कृत 'रणधीर-प्रेममोहिनी' आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों के अध्ययन से पता चलता है कि 'इस धारा के नाटककारों ने अपनी कथावस्तु का स्वाभाविक विकास न दिखाकर अधिकांश आकस्मिक घटनाओं का आश्रय लिया है।' इस प्रकार इनमें प्रेम के भिन्न-भिन्न रूपों का चित्रण नहीं है।

प्रेम-प्रधान नाटकों की भाँति ही देश-प्रेम सम्बन्धी नाटक, प्रतीकवादी नाटक तथा प्रहसन भी भारतेन्दु-काल की नवीनताओं में से हैं। राष्ट्र-प्रेम की धारा के अन्तर्गत भारतेन्दु-कृत रचनाओं को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। प्रतीकवादी-धारा में कमलाचरण-कृत 'अद्भुत नाटक' आदि मौलिक रचनाएँ हैं। इनमें भावों और विचारों का मानवीकरण किया गया है। प्रहसन भारतेन्दु-काल की विशेष संपत्ति हैं। इस प्रकार के नाटकों में हास्य और व्यंग का अच्छा चित्रण हुआ है। भारतेन्दु ने स्वयं इनका प्रणयन किया और अन्य नाटककारों ने उनसे प्रेरणा ग्रहण करके विविध सामाजिक विषयों के आधार पर प्रहसनों की रचना की। देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'एक-एक के तीन-तीन,' बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा काम वैसा परिणाम,' प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलिकौतुक रूपक' किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'चौपट चपेट' और विजयानन्द-कृत 'महा अंधेर नगरी' आदि का उस समय अच्छा प्रचार हुआ। वास्तव में ये प्रहसन उस समय की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विचार-धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

भारतेन्दु-काल में मौलिक नाटकों के प्रणयन के साथ-साथ अनूदित नाटकों की भी अच्छी ख्याति हुई। इस युग में संस्कृत के प्रायः सभी अच्छे-अच्छे नाटकों के अनुवाद हुए। भवभूत-कृत उत्तर राम-चरित 'मालती-माधव' तथा 'महावीर-चरित' के हिन्दी-अनुवादों का अच्छा प्रचार हुआ। सन् १८६८ में लाला सीताराम ने कालिदास के 'मालविकाग्नि मित्र' का हिन्दी-अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त 'वेणीसंहार', 'मृच्छकटिक', 'रत्नावली' तथा 'नागानन्द' के भी हिन्दी-अनुवाद हुए। इन संस्कृत-नाटकों के अनुवादों के साथ ही बँगला के कतिपय नाटकों का भी हिन्दी में अनुवाद किया गया। माइकेल ,मधुसूदन-कृत 'पद्मावती' तथा 'कृष्ण-कुमारी' आदि के बड़े सफल हिन्दी-अनुवाद हुए। अँगरेजी से भी कई अनुवाद हुए। शेक्सपियर के 'मर्चेंट आफ वेनिस' का 'दुर्लभ-बंधु', 'वेनिस नगर का सौदागर' तथा 'वेनिस नगर का व्यापारी' 'कमेडी आफ एरर्स' का 'भ्रमजालक', 'एज यू लाइक इट' का 'मन भावन' तथा 'रोमियो एंड जूलियट' का 'प्रेमलीला', 'मैक्बेथ' का 'साहसेन्द्र साहस' के नाम से अनुवाद प्रकाशित हुए। 'किंग लेयर' का अनुवाद इसी नाम से किया गया। इन अनूदित नाटकों के साथ-साथ रूपांतरित नाटकों की रचना भी इस युग की एक विशेषता है। प० केशवराम ने 'सरोजिनी' के आधार पर 'सज्जाद-संबुल' और 'सुरेन्द्र-विनोदिनी' के आधार पर 'शमशाद-सौसन' की रचना की। इन दोनों रूपांतरित नाटकों का हिन्दी में अच्छा प्रचार हुआ।

इस प्रकार नाटक-निर्माण की दृष्टि से भारतेन्दु-काल में नाटकों के प्राचीन विषयों की पुनरावृत्ति ही नहीं हुई, अपितु कतिपय ऐसे नवीन विषयों को भी जन्म दिया गया जो भावी हिन्दी-नाटक कारों के लिए पथ-प्रदर्शक बन गये। इसमें संदेह नहीं कि कई कारणों से यह काल नाटक-रचना के लिए क्षणिक ही सिद्ध हुआ और अगले दस वर्षों में किसी महत्त्वपूर्ण नाटक की रचना नहीं हो सकी; फिर भी इसी काल ने प्रसाद-युग को जन्म दिया और यदि यह कहा जाय कि भारतेन्दु-काल में ही प्रसाद-युग का बीज विद्यमान था तो अत्युक्ति न होगी।

(३) संधि-काल का नाट्य-साहित्य (१९०५-१९१५)—भारतेन्दु-काल के अन्त से प्रसाद-काल के आरंभ तक का समय हिन्दी-नाट्य-साहित्य के इतिहास में संधि-काल माना जाता है। इसका आरंभ सन् १९०५ से होता है। भारतीय इतिहास में यह वर्ष बड़े महत्त्व का है। इसी वर्ष बंग-भंग के प्रश्न ने सर्वदेशव्यापी आन्दोलन का रूप धारण किया जिसके फलस्वरूप राजनीतिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों की विचार-धारा में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन का हिन्दी के तत्कालीन नाट्य-साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा और हम देखते हैं कि इन दस-ग्यारह वर्षों का नाट्य-साहित्य भारतेन्दु-काल के नाट्य-साहित्य से कई बातों में भिन्न हो गया। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मौलिक नाटकों में पौराणिक धारा के अन्तर्गत तो नहीं, पर ऐतिहासिक, प्रेम-प्रधान और समस्या-प्रधान नाटकों के वस्तु-विन्यास में अवश्य मिला। राम-धारा तथा कृष्ण-धारा में जो नाटक लिखे गये उनमें पौराणिक दृष्टिकोण को ही महत्त्व दिया गया। कला की दृष्टि से भी उनमें किसी प्रकार की उत्कृष्टता नहीं आ सकी। पौराणिक आख्यानों को लेकर जो नाटक रचे गये, उनमें महावीरसिंह-कृत 'नल-दमयंती', जयशंकर प्रसाद-कृत 'करुणालय' और बद्रीनाथ भट्ट-कृत 'कुरुवनदहन' को ही प्रधानता मिली। 'कुरुवनदहन' ने हिन्दी के रूपान्तरित नाटकों में एक नये दिशा की सूचना दी। ऐतिहासिक धारा के नाटकों में शालिग्राम-कृत 'कुरु-विक्रम'; विंद्रावन लाल-कृत 'सेनापति-उदाल' और बद्रीनाथ भट्ट-कृत 'चन्द्रगुप्त' और 'तुलसीदास' ही अधिक प्रसिद्ध हुए। इन नाटकों में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ऐतिहासिक वातावरण के चित्रण में लेखकों को भारतेन्दु-काल के लेखकों की अपेक्षा अधिक सफलता मिली। इसी प्रकार समस्या-प्रधान नाटकों में सामाजिक और राष्ट्रीय विचारों का ऐसा सुन्दर समन्वय हुआ कि भारतेन्दु-काल में दोनों का जो पृथक् स्वरूप था वह नष्ट हो गया। इस धारा के नाटकों में मिश्रबन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह सन् १९१५ की रचना है। इसमें लेखक-द्वय ने

बड़ी सावधानी से अपने अदालती अनुभवों का चित्रण किया है। प्रहसनों में बद्रीनाथ भट्ट-कृत 'चुंगी की उम्मेदवारी' अधिक प्रसिद्ध है।

उपर्युक्त मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत, अँगरेजी और बँगला के मौलिक नाटकों के भी हिन्दी में अनुवाद हुए। सत्यनारायण ने 'उत्तर रामचरित' का अनुवाद किया। यह अनुवाद हिन्दी में अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। इसके अतिरिक्त लाला सीताराम ने 'मृच्छकटिक' और सदानन्द अवस्थी ने 'नागानन्द' का अनुवाद किया। शेक्सपियर के कई नाटकों के भी अनुवाद हुए। पर इन अनुवादों में उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्धि-काल के नाट्य-साहित्य में भारतेन्दु-काल के नाट्य-साहित्य की अपेक्षा ऐसा परिवर्त्तन हुआ, जो आगे चलकर प्रसाद-युग को सफल एवं महत्त्वपूर्ण बनाने में सहायक हो सका।

(४) प्रसाद-काल का नाट्य-साहित्य (१९१६-१९४२)—प्रसाद का आविर्भाव हिन्दी-नाट्य-साहित्य में उस समय हुआ जब महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् देश में राजनीतिक परिस्थितियाँ अत्यन्त भीषण रूप धारण करती जा रही थीं और सार्वजनिक जीवन में असंतोष तथा निराशा घर करती जा रही थी। इस देश-व्यापी असंतोष और निराशा का साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा। तत्कालीन साहित्यकारों ने बड़े मार्मिक शब्दों में अँगरेजी सरकार की नीति का विरोध किया और जनता की रुचि को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया। उस समय जो काव्य और नाटक लिखे गये उनमें राष्ट्र-प्रेम की भावना अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। इस राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ सामाजिक चेतना को भी साहित्य में स्थान मिला। वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप शोषक और शोषितों के अन्तर्युद्ध को लेकर जो नवीन प्रश्न उठ खड़ा हुआ उसने साहित्य में प्रगतिवाद को जन्म दिया। छायावाद और रहस्यवाद को भी उसी समय हिन्दी-साहित्य ने अपनाया। शेक्सपियर की नाट्य-कला और भावुकता की प्रतिक्रिया के रूप में पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में

जिस नई कला और बुद्धिवादी विचार-धारा का जन्म हुआ उसने भी तत्कालीन हिन्दी-नाटककारों को प्रभावित किया। इस प्रकार प्रसाद-काल का नाट्य-साहित्य कई धाराओं को लेकर हमारे सामने आया। इस प्रकार भारतेन्दु-काल में जिन नाटकीय प्रवृत्तियों का बीजारोपण हुआ था वे संधि-काल में अंकुरित होकर प्रसाद-काल में कतिपय नवीन प्रवृत्तियों, नवीन चेतनाओं और नवीन विचार-धाराओं के संसर्ग में आकर पुष्पित और फलीभूत हुईं। इस संबंध में हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि इस युग में जिस नाट्य-साहित्य की स्थापना हुई उसका शरीर तो भारतीय था, पर उस शरीर के भीतर जो आत्मा थी वह पूर्वीय और पाश्चात्य नाटकीय परम्पराओं के समन्वय से बनी थी। कहने का तात्पर्य यह कि हिन्दी-नाट्य-साहित्य के नाटककारों को आरंभ में संस्कृत नाट्य-साहित्य से जो प्रेरणा मिली वह भारतेन्दु-काल में पाश्चात्य नाट्य-कला से अधिक प्रभावित होकर प्रसाद-काल में एकदम परिवर्तित हो गयी। प्रसाद-काल के नाटकों पर शेक्सपियर की नाट्य-कला का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है।

नाटक-रचना की दृष्टि से प्रसाद-काल में भारतेन्दु-कालीन सभी धाराओं को स्थान मिला। मौलिक नाटकों में पौराणिक धारा के अन्तर्गत बहुत कम नाटक लिखे गये। राम-धारा में केवल दो-तीन नाटकों की रचना हुई जो कला की दृष्टि से सफल नहीं हुए। कृष्ण-धारा में वियोगीहरि का 'छद्मयोगिनी' ही विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्य पौराणिक आख्यानों को लेकर जो नाटक लिखे गये उनमें मैथिलीशरण गुप्त का 'तिलोत्तमा', कौशिक का 'भीष्म' तथा गोविन्दवल्लभ पंत का 'वरमाला' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में पुरातन को नूतन दृष्टि से देखने की सफल चेष्टा की गयी है और यथा-शक्ति संस्कृत-नाटक-परंपरा का पालन किया गया है। ऐतिहासिक धारा के अंतर्गत बेचन शर्मा उग्र का 'महात्मा ईसा'; प्रेमचन्द का 'कर्बला'; मिलिन्द का 'प्रताप प्रतिज्ञा' उदयशंकर भट्ट का 'विक्रमादित्य' तथा सेठ

गोविन्ददास का 'हर्ष' की गणना की जाती है। इन नाटकों में भी भूत को वर्तमान की दृष्टि से देखने का सफल प्रयास तथा देश-प्रेम का प्रभावोत्पादक चित्रण है। राष्ट्रीय धारा में प्रेमचन्द का 'संग्राम' अत्यन्त उत्कृष्ट रचना है। समस्या-प्रधान नाटकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर' और 'मुक्ति का रहस्य' एक नई दिशा के सूचक हैं। इनमें लेखक का बुद्धिवादी दृष्टिकोण है और ऐसा लगता है कि प्रसाद के नाटकों की प्रतिक्रिया के रूप में इनका उदय हुआ है। इस समय की अन्य प्रेम प्रधान रचनाएँ उल्लेखनीय नहीं हैं। प्रहसनों में जे० पी० श्रीवास्तव-कृत 'दुमदार आदमी', 'उलट-फेर' तथा 'मरदानी औरत'; गोविन्दवल्लभ पंथ-कृत 'कंजूस की खोपड़ी', बेचन शर्मा उग्र-कृत 'चार बेचारे' और सुदर्शन-कृत 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' अधिक प्रसिद्ध हैं।

उपर्युक्त मौलिक नाटकों के अतिरिक्त प्रसाद-काल में संस्कृत-नाटकों के भी अनुवाद हुए हैं। सत्यनारायण ने भवभूति-कृत 'मालती-माधव' का, विजयानन्द त्रिपाठी ने कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' का, और मैथिलीशरण गुप्त ने भास के 'स्वप्न वासवदत्ता' का अनुवाद किया। इन अनुवादों का हिन्दी की तत्कालीन नाट्य-रचना पर प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। अँगरेजी नाटकों में शेक्सपियर के 'ओथेलो' का अनुवाद हुआ। इसके साथ ही रूसी लेखक महात्मा टालस्टाय के तीन नाटकों के अनुवाद 'कलवार की करतूत,' 'अँधेरे में उजाला' और 'जिंदा लाश' के नाम से प्रकाशित हुए। इनका अनुवाद अँगरेजी से किया गया। अँगरेजी से ही जे० पी० श्रीवास्तव ने फ्रांसीसी नाटककार के कुछ प्रहसनों का अनुवाद किया। इन नाटकों को मौलिक नाटकों का अनुवाद न कहकर यदि उनका रूपान्तर कहा जाय तो अनुचित न होगा। अँगरेजी के प्रसिद्ध नाटककार जान गाल्सवर्दी-कृत 'स्ट्राइक, जस्टिस' और 'सिल्वर बाक्स' के अनुवाद क्रमशः 'हड़ताल', 'न्याय' और 'चाँदी की डिबिया' के नाम से प्रकाशित हुए। बेलजियम के प्रसिद्ध कवि मारिस मेटर लिंक की दो छोटी नाटिकाओं का हिन्दी-अनुवाद पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने किया।

इन अँगरेजी अनुवादों के साथ-साथ बँगला के नाटकों का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ और द्विजेन्द्रलाल राय के अनूदित नाटकों को अधिक लोकप्रियता मिली। सन् १९१६ से सन् १९२५ तक उनके सभी नाटकों का हिन्दी में अनुवाद हो गया। उनके अनूदित नाटकों में से 'राणा-प्रताप', 'दुर्गादास', 'मेवाड़-पतन', 'शाहजहाँ', 'नूरजहाँ', 'सीता', 'भीष्म' और 'चन्द्रगुप्त' आदि ने हिंदी-जगत् में धूम मचा दी। रवीन्द्र बाबू तथा गिरीशचन्द्र घोष के भी कई नाटकों के अनुवाद हुए, पर उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली। इन बँगला नाटकों के अतिरिक्त गुजराती और मराठी नाटकों के भी अनुवाद लोक-प्रिय नहीं सके।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटक-रचना की दृष्टि से भारतेन्दु-युग की अपेक्षा प्रसाद-युग अधिक सफल रहा। भारतेन्दु अपने समय के नेता थे। नेता होने के नाते उन्होंने अपने व्यक्तित्व से अपने समकालीन नाटककारों को समान रूप से प्रभावित किया था, पर प्रसाद अपने काल के नेता नहीं थे। वह अपने व्यक्तित्व से अपने समकालीन नाटककारों को प्रभावित नहीं कर सके। उनकी रचनाएँ उनकी व्यक्तिगत साधना का परिणाम थीं। भारतेन्दु के व्यक्तित्व में लोक-साधना का पर्याप्त बल था। उनका साहित्य प्रचार का साहित्य था। हिन्दी में 'सब कुछ' दिखाने के लिए ही उस समय साहित्य के विभिन्न अंगों की भाँति, नाटकों का प्रचार एवं प्रसार हुआ था। प्रसाद-युग में यह बात नहीं थी। वैज्ञानिक आविष्कारों, राजनीतिक हलचलों और साहित्य की नवीन पाश्चात्य मान्यताओं ने प्रसाद-युग को जो बुद्धिवादी दृष्टिकोण प्रदान किया उसने प्रत्येक साहित्यकार को स्वतंत्र रूप से सोचने और समझने की क्षमता प्रदान की। इसलिए प्रसाद अपने स्थान पर प्रसाद ही रहे। वह अपने आदर्शों के अनुसार सबको एक साथ लेकर न चल सके।

(४) आधुनिक काल का नाट्य-साहित्य (१९३४...)—प्रसाद-युग के पश्चात् ही सन् १९३४ से हिन्दी नाट्य-साहित्य के इतिहास में आधुनिक युग का आरम्भ हुआ। नाटकीय प्रवृत्तियों की दृष्टि से यह युग

अभी अपने निर्माण-काल में है। इसका प्रथम उत्थान सन् १९३४ से भारतीय स्वतंत्रता की द्वितीय क्रांति सन् १९४२ तक माना जाता है। इन आठ-नौ वर्षों में जो हिन्दी-नाट्य-साहित्य निर्मित हुआ उस पर तत्कालीन राजनीतिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। राजनीतिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह समय भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के इतिहास में अत्यन्त निराशाजनक था। प्रसाद-युग में निराशा और असंतोष ने जन-जीवन में चेतना और स्फूर्ति भर दी थी, पर प्रस्तुत युग में सन् १९३३ के गांधी-इरविन समझौते तथा लन्दन की गोलमेज सम्मेलनों की विफलता के कारण देश में जो शिथिलता आ गयी थी उससे नाट्य-साहित्य को प्रेरणा नहीं मिली। उसे प्रेरणा मिली तत्कालीन विदेशी साहित्यिक वातावरण से। उस समय पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में नीवन प्रयोग हो रहे थे। वैज्ञानिक आविष्कारों तथा मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों के फलस्वरूप साहित्य में नवीन स्फूर्ति और चेतना आ रही था। फ्राइड के सिद्धान्तों की बड़ी धूम थी। आस्कर वाइल्ड, वर्जीनिया वुल्फ, एच० जी० वेल्स, गाल्सवर्दी आदि की रचनाओं से पाश्चात्य साहित्य सुसंपन्न हो रहा था। उसमें चित्रित प्रत्येक समस्या बुद्धिवाद और उपयोगितावाद की कसौटी पर कसी गयी थी। नाट्य-साहित्य में हेनरिक इब्सन के रचनाओं की धूम थी। उन्होंने अपने नाटकों में भावुकता के स्थान पर बुद्धिवादी दृष्टिकोण से वर्तमान जीवन की समस्याओं का चित्रण किया था। इस प्रकार इन कलाकारों द्वारा पाश्चात्य साहित्य में एक नवीन युग का आरम्भ हुआ जिसने कालान्तर में हिन्दी-साहित्य को भी प्रभावित किया। यह प्रभाव प्रसाद-युग की अपेक्षा प्रस्तुत काल पर अधिक व्यापक रूप में दिखायी दिया। सबसे पहले लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने समस्या-प्रधान नाटकों में इस प्रभाव को ग्रहण किया। उन्होंने नारी की समस्या को, तर्क और ज्ञान की तुला पर तौलकर, सुलझाने की चेष्टा की और हिन्दी नाट्य-साहित्य में एक नये अध्याय की सृष्टि की।

आधुनिक युग के प्रथम उत्थान-काल में पौराणिक धारा के अन्तर्गत कम नाटक लिखे गये। राम-धारा के अंतर्गत केवल सेठजी का 'कर्त्तव्य' (पूर्वार्द्ध) ही सफल रहा। इसी प्रकार कृष्ण-धारा के अंतर्गत उनके ही 'कर्त्तव्य' (उत्तरार्द्ध) को प्रधानता मिली। उदयशंकर भट्ट का 'राधा' भी इसी धारा की एक विशिष्ट रचना है। अन्य पौराणिक आख्यानों के आधार पर लिखे गये नाटकों में उदयशङ्कर भट्ट-कृत 'अंबा', 'सगर-विजय', 'मत्स्यगंधा' और 'विश्वामित्र' विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। कला की दृष्टि से उग्रजी का 'गङ्गा का बेटा' भी एक उत्कृष्ट रचना है। ऐतिहासिक नाटकों में उदयशङ्कर भट्ट-कृत 'दाहर या सिंध-पतन', गोविन्द वल्लभ पंत-कृत 'राजमुकुट' और 'अंतःपुर का छिद्र'; उपेन्द्रनाथ अश्क-कृत 'जय-पराजय'; हरिकृष्ण प्रेम-कृत 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न-भंग', 'आहुति' और 'मदिर'; सेठजी-कृत 'कुलीनता' और 'शशि-गुप्त' आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इस धारा के अधिकार पूर्ण नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी हैं। प्रेम-प्रधान नाटकों में कमलाकान्त का 'प्रवासी' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सुमित्रानंदन पंत का 'ज्योत्स्ना' प्रतीकवादी-धारा के नाटकों में एक विशिष्ट रचना है। समस्या-प्रधान नाटकों में राष्ट्र-प्रेम की धारा का समन्वय इस काल की एक विशेषता है। इस धारा के प्रमुख नाटककार हैं लक्ष्मीनारायण मिश्र। 'राजयोग', 'सिंदूर की होली' और 'आधी रात' उनकी इस काल की समस्या-प्रधान रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त उग्र-कृत 'डिक्टेटर', 'चुम्बन' और 'आवारा', गोविन्द वल्लभ पंत-कृत 'अंगूर की बेटी', वृन्दावन लाल-कृत 'धीरे-धीरे'; सेठजी-कृत विकास, 'सेवापथ' तथा 'प्रकाश'; उपेन्द्रनाथ अश्क-कृत 'स्वर्ग की झलक' और प्रेमीजी-कृत 'छाया' तथा 'बन्धन' का भी समस्या-प्रधान नाटकों में प्रमुख स्थान है।

इन नाटकों के साथ-साथ एकांकियों की रचना भी इस युग की विशेषता है। प्रसाद-युग ने कई एकांकियों को जन्म दिया था और उनका अच्छा विकास हुआ। भुवनेश्वर के ६ एकांकियों का एक संग्रह

'कारवाँ' प्रकाशित हुआ। इसके बाद गणेशप्रसाद द्विवेदी-कृत 'सोहाग बिन्दी', रामकुमार वर्मा-कृत 'पृथ्वीराज की आँखें', 'रेशमी टाई' तथा चारु-मित्रा; उदयशंकर भट्ट-कृत 'अभिनव एकांकी' तथा 'स्त्री का हृदय'; सेठजी-कृत 'सप्तरश्मि', 'पंचभूत', 'दो नाटक' तथा 'नवरस' और अश्क-कृत 'देवताओं की छाया में' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन प्रकाशनों से एकांकियों की लोक-प्रियता बढ़ गयी और यह स्पष्ट हो गया कि उनके आगे नाटकों का भविष्य संदिग्ध एवं अंधकारमय है।

आधुनिक काल का द्वितीय उत्थान-काल सन् १६४२ की द्वितीय जन-क्रान्ति से आरम्भ होता है। यह काल एकांकी-रचना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। नाटक के क्षेत्र में ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना विशेष रूप से हुई है। पौराणिक धारा में पृथ्वीनाथ शर्मा का 'उर्मिला', लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'नारद की वीणा', गोविंद वल्लभ पंत का 'ययाति' और 'कर्त्तव्य', सेठ गोविन्द दास का 'कर्ण' तथा चतुरसेन शास्त्री का 'राधाकृष्ण' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सामाजिक नाटकों में सेठजी-कृत 'दुःख क्यों', 'महत्त्व किसे'; 'बड़ा पापी कौन'; अश्क का 'कैद'; 'झलक', तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गुड़िया का घर' महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर कतिपय राष्ट्रीय भावना-प्रधान नाटक भी लिखे गये हैं। इस दिशा में सेठजी का 'पाकिस्तान' तथा 'सिद्धान्त-स्वातन्त्र' विशेष महत्त्व के हैं। ऐतिहासिक नाटकों में प्रेमीजी का 'मित्र' 'विष-पान', 'उद्धार' तथा 'शपथ'; लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गरुड़ध्वज' 'वत्सराज' तथा 'दशाश्वमेध' बेनीपुरी का 'संघ मित्रा' और 'सिंहल-विजय'; वृन्दावनलाल वर्मा का 'पूर्व की ओर', 'बीरबल', 'झाँसी की रानी', 'काश्मीर का काँटा'; रामकुमार वर्मा का 'शिवाजी' और चतुरसेन शास्त्री का 'अजित सिंह' तथा 'राजसिंह' आदि प्रमुख हैं। एकांकी के क्षेत्र में नाटककारों को इससे कहीं अधिक सफलता मिली है। इस दिशा में रामकुमार वर्मा की रचनाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'ध्रुवतारा', 'सप्त किरण', 'रजतरश्मि' उनके एकांकी-

संग्रह हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क के एकांकियों में 'चरवाहे' 'तूफान से पहले' और 'देवताओं की छाया में' प्रमुख हैं। 'नाटक और नायक' में सत्यगुरु शरण अवस्थी के एकांकी संग्रहीत हैं। 'सगुन', 'जहाँदार शाह', 'लो भाई पंचो लो', 'पीले हाथ' आदि में वृन्दावनलाल वर्मा की एकांकी रचनाएँ हैं। बाल-साहित्य में भी अच्छे एकांकी लिखे गये हैं। रेडियो से भी प्रायः एकांकी प्रसारित होते रहते हैं। भिन्न-भिन्न परीक्षाओं में हिन्दी एकांकी को स्थान मिलने से नाटककारों का ध्यान विशेष रूप से इस ओर गया है।

उपर्युक्त मौलिक नाटकों के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के नाटक भी अनूदित हुए हैं। इस दिशा में कन्हैयालाल माणिकलाल मंशु की 'शम्बर कन्या' तथा 'ध्रुवस्वामिनी देवी' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। गुजराती नाट्य-साहित्य में इनका विशेष महत्त्व है। 'वेणीसंहार' नाटक का भी संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद हुआ है।

हिन्दी-नाट्य-कला का विकास

हिन्दी-नाट्य-साहित्य का जो इतिहास अभी प्रस्तुत किया गया है उससे हिन्दी नाट्य-कला के विकास की स्पष्ट रेखाएँ हमारे सामने आ जाती हैं। हम यह बता चुके हैं कि भारतेन्दु के आविर्भाव के पूर्व का समस्त नाट्य-साहित्य दो प्रकार का था—मौलिक और अनूदित। हम यह भी बता चुके हैं कि मौलिक नाटकों की रचना में संस्कृत-नाट्य-प्रणाली का अनुकरण किया गया था। हिन्दी का पहला मौलिक नाटक है—आनन्द रघुनन्दन। यह सन् १७०० के लगभग की रचना है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है और इसमें गद्य तथा पद्य दोनों का समावेश किया गया है। नाटकीय कला की दृष्टि से इस पर संस्कृत-नाट्य-प्रणाली का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। वही मङ्गला-चरण, वही प्रस्तावना, वही अंक-विभाजन और वही दृश्य-परिवर्तन जो संस्कृत-नाट्य-कला की आधारभूत-परंपराएँ हैं, इसमें भी देखने को मिलती हैं। इनके साथ-साथ पात्रों के नामकरण पर 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की प्रतीकात्मक प्रणाली का स्पष्ट

प्रभाव है। समस्त नाटक में काव्यत्व की प्रधानता और अन्त में भरत-वाक्य की प्रतिष्ठा का भी यही तात्पर्य है कि नाटककार ने अपनी नाटक-रचना में सर्वत्र संस्कृत नाट्य-परम्परा का पालन किया है। अतएव यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी-नाटकों ने अपने प्रारम्भिक युग में सर्वप्रथम संस्कृत-नाट्य-परम्परा से ही प्रेरणा-ग्रहण की और धार्मिक आख्यानों के आधार पर प्रबंध-काव्यों की काव्य-प्रधान संवाद शैली को अपनाकर अपना विकास किया। इसे हम हिन्दी-नाट्य-कला के विकास का प्रथम युग कह सकते हैं।

हिन्दी-नाट्य-कला के विकास का द्वितीय युग भारतेन्दु-काल से आरम्भ होकर प्रसाद-युग के आविर्भाव पर समाप्त होता है। इस युग की गति इतनी तीव्र और उन्नत है कि हमें उसके निर्माण पर आश्चर्य होता है। इसके दो कारण हैं—एक तो भारतेन्दु का व्यक्तित्व और दूसरा युग की माँग। जिस युग में भारतेन्दु ने जन्म लिया उस युग में भारत अपनी प्रगाढ़ निद्रा त्यागकर अँगड़ाई ले रहा था। इस अँगड़ाई को दूर करके भारत के आलस्य ग्रस्त शरीर में नवीन चेतना और स्फूर्ति का संचार करना समाज-सुधारकों, धार्मिक उपदेशकों, राजनीतिक नेताओं और साहित्यकारों का काम था। हुआ भी यही। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रभृत महानात्माओं ने एक-एक कार्य-भार अपने कन्धों पर उठा लिया और उसकी सफलता में अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया। ऐसे चेतना-सम्पन्न युग में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों के साथ-साथ उसके नाट्य-साहित्य को भी पर्याप्त बल मिला। साहित्यिक दृष्टि के उस समय बङ्गला-साहित्य के माध्यम से शेक्सपियर के नाटकीय सिद्धान्तों का प्रचार बढ़ रहा था। ऐसी दशा में हिन्दी-नाट्य-साहित्य पर भी उसका प्रभाव पड़ा। फलतः पूर्व भारतेन्दु-काल में हमें जो संस्कृत नाट्य-परम्परा मिली थी उसे बड़ा धक्का लगा। शेक्सपियर की भावुकता और यथार्थवादिता ने संस्कृत-नाटककारों की बुद्धिवादिता तथा आदर्शवादिता पर ऐसा जादू डाला कि हिन्दी के नाटक-

कार उसके तात्कालिक आकर्षण का लोभ संवरण न कर सके। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में संस्कृत-नाट्य-परंपराओं की यथाशक्ति बहुत रक्षा की थी, पर वह भी पाश्चात्य नाटकों की कला के प्रभाव से अपनी लेखनी को न बचा सके। अपनी मौलिक रचनाओं में उन्होंने प्रधानता तो दी संस्कृत-परंपरा को, पर उसके साथ ही पाश्चात्य नाट्य-परंपरा का भी पालन किया। एक प्रकार से यही भारतेन्दु-काल की नाटक-शैली बन गई और कालान्तर में इसी शैली का विकास हुआ। हिन्दी-नाटकों में नान्दीपाठ, सूत्रधार की प्रस्तावन, कवि-परिचय, स्वगत-कथन, आकाश-भाषित, नेपथ्य, भरतवाक्य आदि की कोई आवश्यकता ही नहीं रह गयी।

नाटकीय तत्वों की दृष्टि से भारतेन्दु-कालीन हिन्दी-नाटकों में कथा-वस्तु का अच्छा विकास हुआ। भारतेन्दु-काल के पूर्व वह पौराणिक कथाओं तक ही सीमित था। भारतेन्दु-युग में उसका क्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हो गया। पुराण के अतिरिक्त इतिहास, समाज और राजनीति से भी उसका गठबंधन हो गया। इन नूतन तथा पुरातन विषयों को कथा-वस्तु के रूप में सँजोकर उसे अंकों तथा दृश्यों में विभाजित करने की भी प्रणाली चल पड़ी और संकलन-त्रय का भी प्रयोग होने लगा। विषय और वस्तु-परिवर्तन की भाँति ही पात्रों का रूप भी बदला। उनका क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया। संस्कृत के नाटक आदर्शवादी होते थे। अतएव उनके पात्र वही हो सकते थे जो किसी आदर्श की स्थापना एवं रक्षा कर सकें। आरंभ में हिन्दी-नाटकों के पात्रों का चयन इसी दृष्टि से होता था, पर जब भारतेन्दु-युग ने आदर्श पात्रों के साथ-साथ यथार्थ जीवन के क्षेत्र से भी पात्रों का चयन प्रारंभ किया तब नायक-नायिका के लिए कोई प्रतिबन्ध ही नहीं रह गया। ऐसी परिस्थिति में कुलीनता और चरित्र की उत्कृष्टता की दृष्टि से नहीं; अपितु चरित्र के विकास के लिए जीवन के वास्तविक क्षेत्र से पात्रों का चयन होने लगा। इससे चरित्र-चित्रण को हिन्दी नाटकों में प्रधानता मिल गयी। मानव अपनी स्वाभाविक परिस्थितियों

में अपने चरित्र का विकास किस प्रकार करता है; अपने संघर्षपूर्ण जीवन में वह कहाँ सफल और कहाँ विफल होता है, अपने दैनिक जीवन में वह किन-किन घातों-प्रतिघातों को सहन अथवा उनकी उपेक्षा करता है; वह कहाँ उठता, कहाँ गिरता और कहाँ दौड़ता है आदि बातों का मानव के चरित्र से जो संबंध है चरित्र-चित्रण द्वारा उसी संबंध का निर्वाह तत्कालीन नाटककारों का धीरे-धीरे लक्ष्य बन गया। इस प्रकार के चरित्र-चित्रण में एक दोष अवश्य आ गया और वह था नाटककार का पात्रों के चरित्र के साथ अपने व्यक्तित्व का समन्वय। इस दोष ने कथोपकथन में बड़ी बाधाएँ उपस्थित कीं। नाटककारों की उपदेशात्मक प्रवृत्ति के फलस्वरूप लम्बे-चौड़े भाषणों की योजना ने नाटक के इस तत्त्व को जो धक्का पहुँचाया उससे नाटक का नाटकत्व ही नष्ट हो गया। एक बात और हुई। भारतेन्दु के अतिरिक्त अन्य नाटककारों ने अपने नाटकों में अवसर और पात्र के अनुकूल न तो सुरुचिपूर्ण हिन्दी-गीतों का समावेश किया और न नृत्य का विधान। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु-काल में हिन्दी का नाट्य-साहित्य संस्कृत परम्परा से बहुत कुछ हटकर पाश्चात्य नाट्य-कला के प्रभावान्तर्गत आ गया।

भारतेन्दु-काल से प्राच्य और पाश्चात्य परंपराओं द्वारा समन्वित जो नाटकीय सिद्धान्त हमें प्राप्त हुए, प्रसाद-युग में उनका पूर्णतः विकास हुआ और इसी युग से हिन्दी-नाट्य-कला के तृतीय युग का आरंभ माना गया। इस युग में भारतेन्दु-कालीन बहुत-से दोषों का परिहार हो गया और नाटकीय विधान में बहुतसी मौलिकता दिखायी देने लगी। प्रस्तावना और वर्जित विषय दिखानेवाले गर्भांकों, प्रवेशकों और विष्कंभकों आदि के स्थान पर आवश्यकतानुसार दृश्यों का आयोजन किया गया। साथ ही रंगमचोय तथा साहित्यिक नाटकों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गयी। प्रसाद-काल के पूर्व हिन्दी में जो नाटक लिखे जाते थे वे अधिकांश रंग-मच के अनुपयुक्त होते थे। प्रसाद-काल में इस दोष का यथाशक्ति परिहार किया गया। कथा-वस्तु में भी कई

नवीन प्रयोग हुए। पौराणिक नाटकों में अबतक राम-कृष्ण आदि को देवता के रूप में चित्रित करने की परम्परा थी। प्रसाद-युग में उन्हें अधिकांश मानव के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। इसी प्रकार ऐतिहासिक नाटकों की कथा-वस्तु में भी नूतनता दिखायी दी। ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण की कला से भारतेन्दु कालीन नाटककार परिचित नहीं थे। इस दिशा में सर्वप्रथम प्रसादजी ने ही नेतृत्व किया। इसके साथ ही उन्होंने अपने ऐतिहासिक नाटकों की कथा-वस्तु में प्रमाणित ऐतिहासिक सामग्री का सन्निवेश किया। इससे भावी नाटककारों को इतिहास की अछूती और संकीर्ण गलियों में भ्रमण करके अपने नाटकों के लिए रोचक और समयानुकूल सामग्री खोजने में विशेष प्रोत्साहन मिला। सामाजिक नाटकों की कथा-वस्तु में भी विशेष परिवर्तन हुआ। अबतक प्रत्येक सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्या का रूप पृथक्-पृथक् था। प्रसाद-युग में इन दोनों सामाजिक समस्याओं में समन्वय स्थापित करके उन्हें एक रूपता प्रदान की गयी। सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना के प्रभाव से इस युग में हिन्दू-मुसलिम एकता, बाल-विवाह, नारी-समस्या, जाति-समस्या, विवाह-समस्या, आर्थिक समस्या आदि अनेक समस्याओं ने जन्म लिया और उन सब का एकीकरण हिन्दी-नाटकों में किया गया। इन समस्याओं के साथ-साथ लक्ष्मीनारायण मिश्र व्यक्ति की समस्या लेकर सर्वप्रथम हिन्दी के रंग-मंच पर आये। भारतेन्दु-काल में नाटककार विरोधी परिस्थितियों के चित्रण तथा उपदेशप्रद दृश्यों द्वारा समाज में सुधार की योजना प्रस्तुत करना चाहते थे। मिश्रजी ने उन दोनों को हटाकर उनके स्थान पर तर्क और बुद्धि को प्रतिष्ठापित किया। वह समस्या की गहराई तक उतरे और वहाँ से उन्होंने उसके कारण और उसके निवारण का पता लगाया। इस प्रकार इस युग में हमें दो नाटकीय धाराएँ देखने को मिलीं—एक तो भावुकता-प्रधान रूप जो तर्कहीन तथा अँगरेजी नाटककार शेक्सपियर की शैली से प्रभावित था, और दूसरा

तर्कपूर्ण बुद्धिवादी रूप जिस पर इबसेन का प्रभाव था। इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान काल में हिन्दी-नाटकों को सर्वतोन्मुखी विकास का अवसर मिला। देश-प्रेम की समस्या; युग-युग से दबी हुई नारी की समस्या तथा इन्हीं से संबंधित अन्य ऐसी समस्याएँ नाटक का विषय बन गयीं जिनके कारण उनकी लोक-प्रियता प्रमाणित हो गयी।

हिन्दी-नाटकों का आधुनिक काल प्रसाद-कालीन नाट्य परंपराओं से ही अधिकांश प्रभावित है। रूसी नाटककारों की आर्थिक समस्या-प्रधान-रचनाओं एवं प्रगतिवादी धाराओं का भी हिन्दी-नाटकों पर प्रभाव पड़ रहा है। नाटकीय-विधान में गीत आदि की अनावश्यकता समझी जा रही है और अंक तथा दृश्य-विधान में भी नवीन प्रयोग हो रहे हैं। इन नवीन प्रयोगों को भविष्य में कहाँ तक सफलता मिलेगी, यह अभी नहीं कहा जा सकता।

: ५ :

हिन्दी-नाट्य कला का शास्त्रीय विवेचन

पिछले अध्याय में हिन्दी-नाट्यकला के विकास के सम्बन्ध में हमने जो कुछ कहा है, उससे हमें हिन्दी-नाटकों के विषयों का अच्छा परिचय मिल जाता है। अब हम यहाँ उसी के सम्बन्ध में पृथक् रूप से विचार करेंगे। प्राचीन नाटकों के अध्ययन से हम यह जान चुके हैं

हिन्दी नाटक के विषय

कि तत्कालीन युग में पात्र और रस की दृष्टि से केवल पौराणिक कथाओं का चयन होता था। इस प्रकार उस समय नाटकीय विषयों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित और संकुचित था। आज यह बात नहीं है। आधुनिक नाटक संस्कृत के आदर्शवादी घेरे से निकलकर जीवन के यथार्थवादी क्षेत्र में आ गये हैं। इसलिए उनके लेखकों के सामने एक नहीं, अनेक विषय हैं। सबसे पहले पौराणिक विषय को ही लीजिए। इस विषय के अन्तर्गत तीन प्रकार के आख्यानों का महत्त्व है:—(१)राम सम्बन्धी आख्यान, (२) कृष्ण सम्बन्धी आख्यान तथा (३) अन्य पौराणिक चरित्र-संबंधी आख्यान। प्राचीन हिन्दी-नाटकों में इन पौराणिक चरित्रों को प्रायः देवता के रूप में चित्रित किया गया है; परन्तु आधुनिक नाटकों में उन्हें मुख्यतः मानव का रूप मिला है और उनके चरित्र का स्वाभाविक विकास दिखाया गया है। इस प्रकार उनके जीवन का यथार्थ चित्रण ही आधुनिक नाटककारों का ध्येय है।

पुराण के पश्चात् इतिहास ही आधुनिक नाटकों का विषय हो सकता है। इतिहास में ही देश के प्राचीन गौरव की कहानी स्वर्णांकित रहती है। ऐसी दशा में ऐतिहासिक विषय-चयन में नाटककार का मुख्य

ध्येय दर्शकों के हृदय में भूतकालीन गौरव तथा उत्कर्ष के प्रति गर्व की भावना का उद्रेक एवं प्रसार करना रहता है। इस दृष्टि से हमारे इतिहास से हिन्दी-नाटककारों को प्रचुर सामग्री मिल सकती है। चन्द्रगुप्त, अशोक, राणाप्रताप, शिवाजी, लक्ष्मीबाई, दुर्गावती, अहल्याबाई, मीराँ, गुरु गोविन्दसिंह, महात्मा गांधी आदि आदर्श वीरों की कथाएँ हमारे लिए सदैव पथ-प्रदर्शक रही हैं और जबतक हमारा इतिहास रहेगा तबतक हमें उनसे प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती रहेगी। इन वीरों की कथाओं के अतिरिक्त उन ऐतिहासिक घटनाओं, क्रांतियों एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों को भी नाटकीय कथानक का रूप दिया जा सकता है जिनका हमारे इतिहास में अमर स्थान है।

आधुनिक नाटकों में हमारी सामाजिक समस्याओं को भी स्थान दिया जा सकता है। पुराण और इतिहास की अपेक्षा यह अत्यंत व्यापक और वर्तमान जीवन से सम्बन्धित विषय है। इसके अन्तर्गत सामाजिक आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन के साथ बाल-विवाह, बहु-विवाह, वृद्ध-विवाह, मद्यपान, वेश्या-वृत्ति आदि अन्य कुरीतियों को नाटकीय विषय का रूप दिया जा सकता है और उनके द्वारा सुधार की योजना प्रस्तावित, प्रचारित एवं प्रसारित की जा सकती है। इस प्रकार के विषयों के नाटकों में प्रहसन का प्रमुख स्थान है। हास्य सामाजिक कुरीतियों का अत्यन्त सफल और सच्चा सुधारक है। उसके द्वारा जो कार्य वर्षों में नहीं हो पाता वह एक क्षण में हो जाता है। अन्य सामाजिक विषयों में कौटुम्बिक जीवन की समस्या, पुरुष और नारी का प्रेम, जाति-रक्षा की समस्या, नारी की समस्या, पूँजीपति और श्रमजीवी की समस्या, विवाह की समस्या, महाजन और कर्जदार की समस्या आदि का प्रमुख स्थान है। इन समस्याओं को नाटकीय रूप देकर उनकी गुत्थी सुलझानेवाले नाटक हिन्दी में 'समस्या-प्रधान नाटक' कहलाते हैं। इन नाटकों का मुख्य उद्देश्य जनता और समाज के संमुख इन समस्याओं की विषमताओं तथा तत्सम्बन्धी सामाजिक हानि-लाभ

का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर उसे उनका हल खोजने के लिए बाध्य करना है। इधर हिन्दी में इन समस्याओं को लेकर कई सफल नाटक लिखे गये हैं और धीरे-धीरे उनका प्रचार बढ़ता जा रहा है।

राजनीति भी आधुनिक नाटकों का महत्त्वपूर्ण विषय हो सकता है। यद्यपि इस विषय से सम्बन्धित समस्त समस्याएँ सामाजिक समस्याओं के अन्तर्गत आसानी से रखी जा सकती हैं, तथापि कई दृष्टियों से इनका पृथक ही महत्त्व है। वर्तमान राजनीति में कई 'वाद' चल रहे हैं और उनका सर्वत्र प्रचार किया जा रहा है। इस प्रकार के प्रचार-कार्य में नाटक का योग सर्वोपरि है। पूँजीवाद के विरुद्ध साम्यवादी आदर्शों का, तानाशाही के विरुद्ध जनतंत्र के आदर्शों का, साम्राज्यवाद के विरुद्ध गांधीवादी आदर्शों का, हिंसा के विरुद्ध अहिंसा का तथा इसी प्रकार के अन्य राजनीतिक सिद्धांतों का प्रचार रंग-मंच से बड़ी सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इन विषयों से सम्बन्धित नाटकों में नाटककारों का उद्देश्य अपने राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रचार में जनता का सहयोग प्राप्त करना होता है। वे अपने नाटकों में निष्पक्ष भाव से अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखकर विरोधी राजनीतिक वादों का खण्डन करते हैं और उनके प्रति लोगों को सचेत करते हैं। ऐसी दशा में उन्हें अपने नाटकीय-विधान में बड़ी सतर्कता से काम लेना पड़ता है।

दार्शनिक सिद्धांत भी नाटक के विषय बनाये जा सकते हैं और उनका खंडन-मंडन रंग-मंच से किया जा सकता है। जीवन और जगत् के बीच जो अनेकानेक मत-मतांतर चल रहे हैं वे किसी-न-किसी दार्शनिक सिद्धांत पर आश्रित होते हैं और उनमें से किसी-न-किसी से नाटककार का विशेष सम्बन्ध रहता है। अतएव जब नाटककार उन दार्शनिक सिद्धांतों को अपनी रचना का विषय बनाता है तब दार्शनिक नाटकों का आविर्भाव होता है। दार्शनिक नाटकों में आस्तिकवाद, विकासवाद, अनीश्वरवाद, भक्तिवाद, अवतारवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, यथार्थवाद, गतिवाद, कलावाद, मनोविज्ञान आदि की व्याख्या सरल भाषा और

शैली में की जाती है। इस प्रकार के नाटकों का उद्देश्य जनता में धार्मिक अथवा साहित्यिक भावना का प्रचार कर मन विशेष के प्रति उसका ध्यान आकृष्ट करना होता है।

मानवीय भाव भी नाटक के विषय बनाये जाते हैं। प्रेम, ममता, वीरता, क्रोध, कायरता, निर्दयता, लोभ आदि ऐसे भाव हैं जो आदि काल से मानव-चरित्र में निहित हैं। रंग-मंच से इन भावों का प्रदर्शन देखकर मानव अपने आपको पहचानता है और फिर अपने हृदय में सद्गुणों की प्रतिष्ठा करता है। जो नाटक इन भाव-समूहों के आधार पर लिखे जाते हैं उनकी शैली अधिकांश प्रतीकात्मक होती है। इस शैली के अन्तर्गत नाटक के विषय को दो भागों में विभाजित कर लेते हैं; जिनमें से पहले भाग के प्रतिनिधि एक विशेष भाव-समूह होते हैं और दूसरे भाग के प्रतिनिधि उसके प्रतिकूल भाव-समूह। इस प्रकार दोनों परस्पर विरोधी भाव-समूहों में बाह्य द्वन्द्व स्थापित किया जाता है और अन्त में एक की विजय घोषित की जाती है। अन्तर्द्वन्द्व इससे भिन्न होता है। दो परस्पर विरोधी भावों का जब एक ही पात्र में आरोप किया जाता है तब नाटक में अन्तर्द्वन्द्व की स्थापना होती है। शेक्सपियर तथा प्रसादजी के नाटकीय पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व अधिक मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी विषय नाटक के विषय बन सकते हैं। मनुष्य की पारिवारिक जीवन की उलझनें, उसकी सामाजिक जीवन की समस्याएँ, उसकी आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन की जटिलताएँ, उसके मानसिक तथा आध्यात्मिक जगत् के विषम द्वन्द्व—सब पर कभी एक साथ और कभी पृथक रूप से नाटककारों ने नाटक लिखे हैं और वे अपनी रचनाओं में सफल हुए हैं। जिस प्रकार नाटकीय कला में समस्त कलाओं का समन्वय है, उसी प्रकार नाटक के समस्त विषयों में जीवन के समस्त विषयों का सफलतापूर्वक समन्वय हो सकता है। हमें यह न भूलना चाहिए कि हमारा जीवन एक महान नाटक है और यह विश्व ही उसका रंग-मंच है।

अब आधुनिक हिन्दी-नाटक के भेदों पर विचार कीजिए। विषय, उद्देश्य और शैली के अनुसार हिन्दी-नाट्य शास्त्रियों ने उन्हें कई भेदों में विभाजित किया है। विषय की दृष्टि से उनके पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, प्रतीकात्मक आदि कई भेद हो सकते हैं। इन नाटकों के विषय और उनके उद्देश्य के सम्बन्ध में हम अभी विचार कर चुके हैं। पाश्चात्य परंपरा के अनुसार विषय के प्रभाव की दृष्टि से नाटकों के शृंगारात्मक, दुखात्मक, हास्यजनक, उपदेशात्मक, सुखात्मक आदि कई भेद होते हैं। प्रदर्शन-विधि के अनुसार भी नाटक कई प्रकार के होते हैं। छायानाटक, मूकाभिनय नाटक, गीतिनाट्य, नृत्यनाट्य, श्रव्य नाटक आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। रचना की दृष्टि से एकांकी और अनेकांकी नाटक होते हैं।

नाटकों के भेद

उद्देश्य की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-नाटक के तीन भेद हो सकते हैं :— (१) सांस्कृतिक (२) नैतिक और (३) समस्या-प्रधान। सांस्कृतिक नाटकों से हमारा तात्पर्य उन नाटकों से है जिनमें सर्वत्र संस्कृति का चित्रण किया जाता है। इस दृष्टि से प्रसाद और सेठ गोविन्ददास के नाटक अपने उद्देश्य में अत्यन्त सफल हैं। उनके नाटकों का आधार समृद्ध आर्य-भारत का जीवन है। भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र है सेवा और प्रेम-द्वारा चिर सुख-शान्ति की स्थापना। सेठजी और प्रसादजी ने भारतीय संस्कृति का इसी प्रेरणा को अपने नाटकों में ग्रहण किया है। नैतिक नाटकों का मूलमंत्र है भावुकतापूर्ण आदर्शवाद। इनके अन्तर्गत उन नाटकों का समावेश होता है जिनमें कर्तव्य की माँग के आधार पर किसी नीति की स्थापना की जाती है। इस प्रकार के नाटक दो रूपों में मिलते हैं:—(१) पौराणिक और (२) राष्ट्रीय। पौराणिक नैतिक चेतना-संबंधी-नाटकों की आधारभूत कथा पौराणिक होती है और उनका उद्देश्य होता है अनीति पर नीति की विजय घोषित करना तथा

प्राचीन गौरव के प्रति पाठक अथवा दर्शक के हृदय में लालसा उत्पन्न करना। पं० उदयशंकर भट्ट का 'सगर-विजय' इसी प्रकार का नाटक है। राष्ट्रीय नैतिक चेतना संबंधी नाटकों की आधारभूत कथा ऐतिहासिक होती है और उनका उद्देश्य होता है भारत के प्राचीन वीरों का गौरव-गान करते हुए उनकी संकीर्णता, पारस्परिक कलह आदि का दुष्परिणाम दिखाकर देश-वासियों में उदात्त भावनाएँ जागरित करना। हरिकृष्ण प्रेमी का 'रक्षा-बन्धन' इसी प्रकार का नाटक है।

समस्या-प्रधान नाटक बौद्धिक चेतना के प्रमाण हैं। इनका जन्म भावुकता और रोमांस के विरोध में हुआ है। इनकी शैली मनोविश्लेषण की शैली है। इनके दो रूप हैं:—(१) व्यक्ति की समस्या और (२) सामाजिक-राजनीतिक समस्या। व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप जो अनेक समस्याएँ जन्म लेती हैं उनमें 'सेक्स' की समस्या सब से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इसका सीधा सम्बन्ध है विवाह की संस्था से। हिन्दू-समाज में विवाह-संस्था, आवश्यकता से अधिक, रूढ़िबद्ध हो गयी है जिसके के कारण अनेक विषमताएँ उपस्थित हो गयी हैं। इन विषमताओं को 'सेक्स' सम्बन्धी पाश्चात्य विचार-धारा से भी प्रोत्साहन मिला है। साथ ही आधुनिक नारी की अर्थहीन समस्या भी सामने आयी है। ऐसी दशा में हिन्दी के नाटककारों ने अपनी बौद्धिक दृष्टि से इन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'मुक्ति का रहस्य' इसी प्रकार का समस्या-नाटक है। सामाजिक-राजनीतिक समस्या-नाटक इससे भिन्न होता है। इस प्रकार के नाटकों का सीधा सम्बन्ध गांधीवाद के व्यवहार-पक्ष से है। इनकी समस्या हमारी राजनीति और समाज नीति की ऊपरी सतह को ही छूती है। इनमें न तो जीवन के गहन तत्त्वों की व्याख्या होती है और न उनका सूक्ष्म विश्लेषण। इनका आधार है व्यावहारिक आदर्शवाद जो जीवन के नैतिक विधान की अपेक्षा करता है। सेठ गोविन्ददास का 'सेवा-पथ' इसी प्रकार का नाटक है।

शैली के अनुसार भी नाटक के भेद किये जा सकते हैं। इसके अन्तर्गत नाटक मुख्यतः आठ प्रकार के होते हैं:—(१) वस्तु-प्रधान, (२) चरित्र-प्रधान, (३) व्यापार-प्रधान, (४) संवाद-प्रधान। (५) उद्देश्य-प्रधान, (६) प्रतीक-प्रधान, (७) भावनाट्य और (८) गीतिनाट्य। वस्तु-प्रधान नाटकों में घटना प्रधान होती है और चरित्र-चित्रण गौण रहता है। हरिकृष्ण प्रेमी का 'रक्षा-बन्धन' इसी प्रकार का नाटक है। चरित्र-प्रधान नाटक में चरित्र-चित्रण को मुख्य और घटनाओं को गौण स्थान मिलता है। इस प्रकार के नाटक चारित्रिक द्वन्द्व को लेकर चलते हैं और इनकी सबसे बड़ी सफलता चरित्र-निर्माण पर ही आधारित रहती है। लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'मुक्ति का रहस्य' इसी प्रकार का नाटक है। व्यापार-प्रधान नाटक में घटनाओं और क्रियाओं का अधिक समावेश रहता है, संवाद का अंश कम रहता है और क्रियाओं के फल-स्वरूप कोई स्वाभाविक तथा अनिवार्य फल प्राप्त होता है। अँगरेजी में ऐसे नाटकों को 'ऐक्शन प्ले' कहते हैं। संवाद-प्रधान नाटकों में अधिकांश नाटकीय व्यापार संवाद-द्वारा सिद्ध होता है और भाषा-शैली पर अधिक बल दिया जाता है। उद्देश्य-प्रधान नाटक में किसी विशेष उद्देश्य का प्रतिपादन होता है। सेठ गोविन्ददास का 'भू-दान-यज्ञ' इसी प्रकार का नाटक है। प्रतीक-प्रधान नाटक को नाट्य रूपक भी कहते हैं। ऐसे नाटकों में भावनाओं अथवा सिद्धान्तों को मूर्त रूप में चित्रित किया जाता है। इनके दो रूप मिलते हैं:—एक में तो मनुष्य की अन्तर्वृत्तियाँ मूर्त्त रूप धारण करके हमारे सामने आती हैं और दूसरे में पात्र साधारण स्त्री-पुरुष होते हैं, परन्तु उनका स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं होता। वे भावनाओं के प्रतीक मात्र होते हैं। हिन्दी में सुमित्रानन्दन पंत-कृत 'ज्योत्सना' पहले और प्रसादजी-कृत 'कामना' दूसरे प्रकार के नाट्य रूपक हैं। गीति नाट्य से तात्पर्य उन नाटकों से है जो पद्य-बद्ध होते हैं और जिनमें कार्य की अपेक्षा भाव और बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष का प्राबल्य रहता है। मन की एक भावना का दूसरी

भावना के विरुद्ध संघर्ष ही गीतिनाट्य की विशेषता है। गीतिनाट्य नाट्य-कविता भी नहीं है। नाट्य-कविता में नाट्य-तत्त्व रहते अवश्य हैं, पर उनका आस्वादन पढ़कर ही लिया जा सकता है अर्थात् वे अभिनेय नहीं हैं। गीतिनाट्य अभिनेय हैं। नाट्य-कविता में नाट्य-तत्त्व गौण होता है और गीतिनाट्य में यह मुख्य होता है। गीतिनाट्य और भावनाट्य में अन्तर है। दोनों का प्राण-तत्त्व है भावना—मन का संघर्ष, पर गीतिनाट्य का माध्यम है कविता और भावनाट्य का माध्यम है गद्य। गोविन्दवल्लभ पंत का 'वरमाला' भावनाट्य और प्रसादजी का 'करुणालय' गीतिनाट्य है।

सुखान्त और दुखान्त नाटक

उपर्युक्त पंक्तियों में हम सुखान्त और दुखान्त नाटकों के सम्बन्ध में संकेत कर चुके हैं। यहाँ हम उन पर पृथक् रूप से विचार करेंगे। हम बता चुके हैं कि दुखान्त नाटक का अन्त चिर वियोग में होता है। इसीलिए कुछ नाटककारों ने उसे वियोगान्त अथवा त्रासद भी कहा है। वियोगान्त नाटक हमारी संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल नहीं हैं। लोकोत्तर आनन्द की प्राप्ति ही हमारे समस्त प्रकार के साहित्य का लक्ष्य रहा है। इस लक्ष्य-सिद्धि में जो तत्त्व बाधक होते अथवा हो सकते हैं उनका त्याग, हमारे साहित्य-मनीषियों ने, बड़ी सावधानी से किया है। नाटक के सम्बन्ध में तो ऐसे तत्त्वों पर विशेष रूप से दृष्टि रखनी पड़ती है, क्योंकि वह हमारी प्रत्येक इन्द्रिय को प्रभावित करता है। ऐसी दशा में जो शिष्टाचार के विरुद्ध है, जो हमारी सुरुचि के प्रतिकूल है, जिसे दिखाना अथवा व्यवहार में लाना नैतिक दृष्टि से लज्जाजनक है, जो हमारे नैतिक जीवन पर बुरा प्रभाव डालता है उसे नाटक में स्थान देना सर्वथा त्याज्य है। साहित्य दर्पणाकार ने लिखा है:—

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्येदशादिविल्पवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्युरतस्तथा।
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीड़ा करञ्चयत्।

में उनका अटल विश्वास था। ईश्वरीय न्याय के विरुद्ध आवाज उठाना वह नास्तिकता समझते थे। मृत्यु-दण्ड, और वह भी भौतिक स्वार्थों के लिए, पाप और भय की दृष्टि से देखा जाता था। इससे जनता में ईश्वर के प्रति अश्रद्धा और ईश्वरीय अनुशासन के प्रति घृणा उत्पन्न हो सकती थी। इसके साथ ही भारतीय अध्यात्मवाद के आधारभूत सिद्धान्त 'आवागमन' की भी अवहेलना होने का भय था। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा के अमरत्व में विश्वास करनेवाले भारतीयों ने सामाजिक जीवन में मृत्यु की भयंकरता बहुत ही कम कर दी थी। उनका कहना था कि मृत्यु से जीवन का अन्त नहीं होता। मनुष्य अपने-अपने कर्मानुसार बार-बार जन्म लेता और मरता है। मृत्यु शरीर-परिवर्तन का साधन-मात्र है। इससे आत्मा का परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार की विचार-धारा ने दुखान्त नाटकों की जड़ ही काट दी और इसीलिए हमारे नाटककार उसे न अपना सके।

दुखान्त अथवा वियोगान्त नाटकों की सृष्टि में पाश्चात्य विचार-धारा का ही गहरा हाथ है। उस विचार-धारा का जीवन के प्रति यथार्थ-वादी दृष्टिकोण है। उसके अनुसार मानव-जीवन कोलाहलपूर्ण, अशान्त, क्षुब्ध, असंयत, स्वार्थपरायण और अधोगामिनी प्रवृत्तियों का समूह-मात्र है। जीवन के इसी पक्ष को चित्रित करना पाश्चात्य साहित्य का लक्ष्य है। पाश्चात्य काव्य, नाटक और उपन्यास इसी लक्ष्य का समर्थन और अनुमोदन करते हैं। इससे स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य में जो त्याज्य है उसे पाश्चात्य साहित्य में मान्यता दी गयी है। इस प्रकार की मान्यता का विशद और प्रकृत रूप हमें पाश्चात्य नाटकों में देखने को मिलता है। बीसवीं शताब्दी-पूर्व के अधिकांश पाश्चात्य नाटकों में जीवन की जो व्याख्या हमें मिलती है उसमें हमें मानव हृदय का रक्तरंजित द्वन्द्व ही दिखायी पड़ता है। सहनशीलता, क्षमा, त्याग और अहिंसा आदि सात्विक प्रवृत्तियों के कोमल स्पर्श से मानव-हृदय को जो शक्ति और सान्त्वना मिलती है, उसका उनमें प्रायः अभाव

है और इसी अभाव के कारण पाश्चात्य साहित में वियोगान्त अथवा दुखान्त नाटकों का बाहुल्य है।

हिन्दी में वियोगान्त अथवा दुखान्त का जो अर्थ ग्रहण किया जाता है, 'ट्रेजेडी' का अर्थ उससे कुछ भिन्न होता है। वियोग अनेक प्रकार से हो सकता है, पर ट्रेजेडी का वियोग विशेष प्रकार का होता है। संस्कृत-नाट्य साहित्य में वियोगान्त नाटक मिलते हैं, पर ट्रेजेडी के अन्तर्गत उनकी गणना नहीं की जा सकती। 'उत्तर रामचरित' को हम वियोगान्त नाटक कह सकते हैं, पर वह ट्रेजेडी नहीं है। ट्रेजेडी का वियोग रक्तपात पर आश्रित रहता है। पाश्चात्य नाट्य साहित्य में इस प्रकार के जितने नाटक मिलते हैं उनके कथानकों में रक्तपात की ही विभीषिका है। अँगरेजी साहित्य के प्राण 'शेक्सपियर' की प्रत्येक ट्रेजेडी—हैमलेट, मैकबेथ, ओथेलो, जूलियस सीजर, कारोलेनस, किंग जान, किंग लियर, रिचर्ड दि सेकेण्ड और थर्ड—में हत्या का जैसा वीभत्स व्यापार है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। शेक्सपियर ही नहीं, अन्य पाश्चात्य नाटक-कार भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने स्वतन्त्रतापूर्वक अपने-अपने रंग-मंच से हत्या का प्रचार किया है और तत्कालीन आलोचकों ने उनके इस प्रकार के रक्तपात की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ऐसा क्यों है?

हम जानते हैं कि प्रत्येक साहित्य अपने समाज, अपने इतिहास और अपने वातावरण से प्रेरणा ग्रहण करता है। साहित्य समाज का, राष्ट्र का प्रतिबिंब है। जैसा समाज होता है, इतिहास का जैसा गठन होता है, उसी के अनुरूप साहित्य की विचार-धारा का निर्माण होता है। पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास में ग्रीक सभ्यता कैसी निर्मम और निर्दय रही है, उससे इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी परिचित है। पहले-पहल उसी सभ्यता ने साहित्य में ट्रेजेडी को जन्म दिया और फिर कालान्तर में योरप के भिन्न-भिन्न देशों ने, अपनी-अपनी जातीय परम्परा एवं रुचि के अनुकूल, उसे ग्रहण किया। उन्होंने उसकी आत्मा का किंचित् संस्कार नहीं किया और करते भी क्यों? वैण्डल, गाथ आदि बर्बर जातियों

के उष्ण रक्त का उनके मस्तिष्क और हृदय पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि क्रूर आचार से उनका स्वाभाविक प्रेम हो गया है। स्पार्टा-वालों के निर्दय व्यवहार, रोम-निवासियों के ग्लैडिएटर के खेल, क्रूसेड का रक्तपात, इन्क्वीजिशन का हत्याकाण्ड, यहूदियों का उत्पीड़न, विचक्रैफ्ट के अमानुषिक दण्ड, फ्रांस के प्रोटेस्टेन्टों और रोमन कैथो-लिकों का रोमांचकारी हत्याकाण्ड आदि ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि योरप-निवासियों के जीवन और इतिहास का गठन क्रूर और निर्मम उपकरणों से ही हुआ है। ऐसा जीवन और ऐसा ऐतिहासिक वातावरण ट्रेजेडी के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। अँगरेजी नाटककार शेक्सपियर की रक्तपात-प्रियता के मूल में भी यही रहस्य है।

भारतीय नाटक रक्तपात-शून्य हैं। ट्रेजेडी की शैली को किंचित् अपनाते हुए भी हमारे नाटककारों ने अपनी रचनाओं को उन दोषों से सर्वथा मुक्त रखा है जिनके कारण पाश्चात्य नाटक वधशाला बन गये हैं। वियोगान्त नाटकों का मुख्य उद्देश्य है—करुण रस का संचार, परन्तु जिस ढंग से शेक्सपियर ने अपने नाटकों में करुण रस का संचार किया है उससे अधिकांश घृणा का ही प्रचार होता है। ईर्ष्या के वशी-भूत होकर उथेलो ने अपनी निर्दोष पत्नी डेस्डिमोना का जिस निर्दयता से वध किया है उसका समर्थन कोई भी सहृदय व्यक्ति नहीं कर सकता। सीता, शकुन्तला अथवा मीरा यदि शेक्सपियर के हाथों में पड़ी होतीं तो उसका भी वध हो गया होता, परन्तु हमारे नाटककारों ने ऐसा नहीं किया। वाल्मीकि ने सीता को पुष्पक विमान में बिठाकर आनन्द ध्वनि और पुष्प वृष्टि के साथ स्वर्गारोहण कराया है। सीता का दुःख नारी-हृदय का वास्तविक दुःख है। उसके दुःख के प्रति दर्शकों के हृदय में करुण और सहानुभूति का ही उदय हो सकता है। डेस्डिमोनाका वध स्वार्थ, ईर्ष्या और घृणा का प्रचारक है। उसके प्रतिसहानुभूति होते हुए भी हम उथेलो को देखकर घृणा से अपनी आँखें बन्द कर लेते

है, पर सीता के स्वर्गारोहण के अवसर पर हमारे हृदय में राम के प्रति श्रद्धा के भाव ही उदय होते हैं। राम ने सीता का परित्याग ईर्ष्यावश नहीं, नारी-जाति की सम्मान-रक्षा की भावना से किया था। ऑथेलो की-सी ईर्ष्या, स्वार्थपरता, निर्दयता और भावुकता उनमें नहीं थी। ऐसी दशा में राम और सीता के चरित्र से मानव-समाज के संगठन को जो शक्ति और स्फूर्ति मिल सकती है वह ऑथेलो और डेस्डिमोना के चरित्र से मिलना असंभव है। ऑथेलो को पढ़कर हमारे हृदय में रक्तपात का बीज ही अंकुरित होगा। आज के सामाजिक जीवन में जो भीषण और रोमांचकारी हत्याएँ हो रही हैं उनमें से अधिकांश केवल में शेक्सपियर की भावुकतापूर्ण रक्तपात-प्रियता ही कार्य कर रही है।

दुखान्त नाटक की आधारभूत प्रवृत्ति

हमने दुखान्त नाटकों के सम्बन्ध में अबतक जो कुछ लिखा है उससे हमारा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उनकी रचना होनी ही नहीं चाहिए। हम रक्तपातपूर्ण दुखान्त नाटकों के पक्षपाती नहीं हैं। रङ्ग-मंच से हत्या का प्रचार करना मानवीय भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल है। उससे हमारी सामाजिक प्रवृत्तियों का पतन होता है, हमारे सात्विक गुणों की प्रतिष्ठा भंग होती है, ईश्वरीय न्याय पर आँच आती है और हमारे विश्वासों को ठेस लगती है। हत्या कभी भी हमारे आनन्द की सीमा-विस्तार में सहायक नहीं हो सकती, उससे हमारी रागात्मक प्रवृत्तियों का हनन ही होता है। उसमें जीवन को उठाने, उसे बनाने-सँवारने का आदर्श नहीं, जीवन को पतनोन्मुखी बनाने का कृत्रिम प्रयत्न रहता है। इसीलिए हमारे आचार्यों ने अपने साहित्य में दूसरों के वध अथवा आत्म-हत्या को प्रश्रय नहीं दिया। रक्तपात-शून्य दुखान्त के वे अवश्य पक्षपाती थे और उन्होंने उनकी रचना भी की। उनके ऐसे नाटकों में हमें जीवन की विशद व्याख्या मिलती है, ऐसी व्याख्या जो हमारे जीवन के अनुकूल और हमारे जीवन के निकट है।

वास्तव में नाटक सुखान्त हो अथवा दुखान्त—दोनों का एक ही

लक्ष्य है और वह है रसानुभूति-द्वारा आनंद की अभिवृद्धि। रस नौ हैं:— श्रृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत, शान्त, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स। इनमें से प्रथम पाँच—शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त—का सम्बन्ध सुखान्त से और शेष चारः—करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स—का सम्बन्ध दुखान्त से है। नाटककार जब अपनी प्रतिभा के बल से करुण, रौद्र, भयानक अथवा वीभत्स का सम्बन्ध हमारी रागात्मक प्रवृत्तियों के साथ स्थापित करता है तभी लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि होती है और नाटक का ध्येय चरितार्थ होता है। इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करके रसानुभूति कराने में नाटककार को बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। वास्तव में दुखान्त के कथानक का गठन जीवन की गम्भीर परिस्थितियों से होता है; इसलिए उसमें अपेक्षाकृत सहानुभूति की मात्रा अधिक रहती है। इसे दर्शकों के हृदय में जागरित करने के लिए नाटककार प्रकृत अथवा कृत्रिम उपयों से काम लेता है। प्रकृत उपयों-द्वारा जागरित की हुई सहानुभूति, कृत्रिम उपायों-द्वारा जागरित की हुई सहानुभूति की अपेक्षा अधिक तीव्रता, बलवती और स्थायी होती है। इस प्रकार की सहानुभूति से हमारे दुखात्मक अनुभवों की सकुचित सीमा विस्तृत हो जाती है। उस समय हमारे एकाकी व्यक्तित्व तथा तत्सम्बन्धी घटनाओं का देश-काल सम्बन्धी बन्धन टूट जाता है और हम समूचे मानव-समाज के प्रति अपनी सहानुभूति का प्रकाशन करने लगते हैं। इस प्रकार लौकिक जीवन की कटुता, उसका स्वार्थपूर्ण संघर्ष, उसका मात्सर्य, उसका द्वेष, उसका दुःख, उसका भय, उसकी हिंसात्मक प्रवृत्ति—सबका मानव-समाज की मंगलमयी भावना में समाहार हो जाता है। दूसरों के दुःख के प्रति अपनी संवेदना एवं सहानुभूति का प्रकाशन करने तथा उनके लिए आँसू बहाने में हमें जो सुख और आनंद प्राप्त होता है उससे हमारे दुःखों का भी शमन हो जाता है। दूसरों का दुःख देखकर हम अपना दुःख भूल जाते हैं। उस समय हम अकेले नहीं रोते, हम एक जन-समूह के साथ रोते हैं। यही हमारी आत्मा

का विस्तार है और यही आत्मविस्तार हमारे सुख, हमारे आनन्द का कारण है। दुःखान्त नाटकों की लोकप्रियता का यही रहस्य है।

नाटक के तत्त्व

उपर्युक्त पंक्तियों में आधुनिक नाटकों का जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है उससे यह न समझना चाहिए कि उनके गठन में विशेष मौलिक अन्तर रहता है। हम स्वभाव में एक-दूसरे से भिन्न हो सकते हैं, पर शारीरिक रचना में हम सब समान हैं। नाटकों के सम्बन्ध में भी यही बात-चरितार्थ होती है। उनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं जो समान रूप से सबमें पायी जाती हैं। इन्हें हम नाटकीय तत्त्व कहते हैं। नाटकीय तत्त्व छः हैं:—(१) कथानक, (२) वस्तु-विधान, (३) चरित्र-चित्रण, (४) कथोपकथन, (५) देश-काल और (६) उद्देश्य। इन तत्त्वों के अतिरिक्त और भी कई तत्त्व हो सकते हैं, पर उन सबका समावेश इन्हीं छः के अन्तर्गत हो जाता है। प्रत्येक नाटक की रचना इन्हीं तत्त्वों के आधार पर होती है। अतः इनके सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में विचार किया जाता है:—

(१) कथानक—नाटक की इतिवृत्त को कथानक कहते हैं। कथानक मानव-जीवन का सक्रिय और गतिशील रूप है। वही चरित्रों को प्रभावित करता है और उनको स्वरूप प्रदान करता है। चरित्र के बिना नाटक की रचना हो सकती है, पर कथानक के बिना उसकी सत्ता संदिग्ध है। नाटकीय प्रभाव, सक्रियता और चरित्रों की सजीवता एवं गतिशीलता के लिए कथानक का होना परम आवश्यक है। इसके छः भेद होते हैं:—(१) पौराणिक, (२) ऐतिहासिक, (३) आनुश्रुतिक, (४) काल्पनिक, (५) प्रतीकात्मक और (६) वास्तविक। पौराणिक इतिवृत्त किसी देश के प्राचीन धर्म-ग्रंथों में वर्णित कथाओं से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसी कथाओं का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। रामायण और महाभारत की कथाएँ इसी प्रकार की हैं। ऐतिहासिक इतिवृत्त का संबंध इतिहास से होता है। महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि ऐतिहासिक

है। आनुश्रुतिक ऐसे इतिवृत्त होते हैं जो अनुश्रुति पर आधारित रहते हैं। इनका भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। काल्पनिक इतिवृत्त नाटककार की कल्पना की उपज होते हैं। धार्मिक, वैज्ञानिक, पारिवारिक तथा सामाजिक नाटक अधिकांश कल्पित ही होते हैं। प्रतीकात्मक इतिवृत्त में भावों को व्यक्ति के रूप में चित्रित किया जाता है। संसार की जड़-वस्तुओं को भी ऐसे कथानक में स्थान दिया जा सकता है। वास्तविक इतिवृत्त में नाटककार अपने ही जीवन का घटनाएँ अंकित करता है। सेठ गोविन्ददास का 'महत्त्व किसे ?' नाटक इसी प्रकार के कथानक के आधार पर लिखा गया है। इस प्रकार के समस्त कथानकों में निम्नलिखित विशेषताओं का होना आवश्यक है :—

[१] कथानक का सम्बन्ध मानव-जीवन की घटनाओं से होना चाहिए।

[२] कथानक अपने में पूर्ण और निरपेक्ष होना चाहिए।

[३] कथानक का विस्तार एक निश्चित सीमा और समय के भीतर होना चाहिए। वह न तो इतना छोटा हो कि अपना वास्तविक लक्ष्य खो बैठे और न इतना विशाल कि जटिल हो जाय। उसे हमारी स्मृति-शक्ति में समा सकने के योग्य होना चाहिए।

[४] कथानक की पूर्णता के लिए उसके आदि, मध्य और अन्त का निश्चय होना आवश्यक है। आरम्भ कथानक का वह भाग होता है जो किसी पूर्ववर्ती घटना पर आश्रित नहीं रहता, मध्य में पूर्व तथा पश्चात् घटनाओं का योग रहता है और अन्त में आरम्भ तथा मध्य की सारी घटनाएँ केन्द्रीभूत होकर एक निश्चित् परिणाम पर पहुँच जाती हैं। उस समय किसी घटना की अपेक्षा नहीं रहती। कथानक के इन अंगों में ऐक्य और सामंजस्य का होना आवश्यक है।

[५] कथानक में अनावश्यक घटनाओं का संकलन न होना चाहिए। उसका समरस होना आवश्यक है। नाटककार को नाटकीय कथानक के

तुलनात्मक अभिव्यक्ति के लिए भी अवसर रहता है। इसमें मानसिक द्वन्द्व अधिक रहता है जिसका उत्तरोत्तर विकास होता है। जबतक नाटकीय पात्रों का संबंध दो परस्पर विरोधी भावनाओं, विचारों अथवा परिस्थितियों से नहीं होता तबतक इसमें प्राण-की-प्रतिष्ठा नहीं होती। इसमें प्राण-प्रतिष्ठा के पाँच उपाय हैं—(१) कभी पात्र और परिस्थिति के मध्य दीख पड़नेवाले विरोध में इसका उदय होता है, (२) कभी परस्पर विरोधी परिस्थितियों में इसका जन्म होता है, (३) कभी दो विरोधी पात्र इसकी सृष्टि करते हैं, (४) कभी जब एक प्रकार का जीवन दूसरे प्रकार के जीवन से टक्कर लेता है तब इसका अविर्भाव होता है और (५) कभी घटनाओं में दैवयोग के समिश्रण-द्वारा इसका अभ्युदय होता है।

[३] मनोवैज्ञानिक वस्तु-विधान—इस प्रकार के वस्तु-विधान में मुख्यतः ऐसे पात्रों की चित्त-वृत्तियों का द्वन्द्व रहता है जो निकट-संबंधी होते हैं। इसमें तीन बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाता है—(१) प्रत्येक कार्य पात्रों के गुण, शील, मर्यादा, पद आदि के अनुकूल होना चाहिए, (२) पात्रों का व्यवहार और संवाद अत्यन्त स्वाभाविक तथा परिस्थिति के अनुकूल होना चाहिए और (३) प्रत्येक घटना का पूर्वापर संबंध अत्यन्त क्रमिक, संगत तथा पूर्वज घटना का स्वाभाविक तथा अपरिहार्य परिणाम होना चाहिए।

[४] कौतूहल-प्रधान वस्तु-विधान—कथानक में सम्भव-असम्भव तथा अप्रत्याशित घटनाओं का समावेश करके जब वस्तु की रचना की जाती है तब उसे कौतूहल-प्रधान कथा-वस्तु कहते हैं। आजकल के चलचित्रों में इसी प्रकार की कथा वस्तु का प्रयोग होता है। इसमें साधारण जनता की विशेष अभिरुचि होती है।

[५] दृश्यानुकूल वस्तु-विधान—इस प्रकार के वस्तु-विधान में दृश्य के अनुसार घटनाओं का क्रम रखा जाता है और वे एक ही दृश्य पर आयोजित रहती हैं। इसमें दो बातों पर विशेष रूप से ध्यान दिया

जाता है—(१) थोड़ी-थोड़ी देर के पश्चात् नाटकीय व्यापार में परिवर्तन होना चाहिए और (२) कोई भी घटना असंभव अथवा बलपूर्वक लायी हुई नहीं होनी चाहिए। विशेष प्रकार के रंग-मंचों के अनुकूल जो नाटक लिखे जाते हैं वे इसी के अन्तर्गत आते हैं।

अब कथा-वस्तु की गति पर विचार कीजिए। हमारे प्राचीन नाटककारों ने नायक के गुण-दोष के अनुसार वस्तु की तीन प्रधान गतियाँ बतायी हैं—(१) ऊर्ध्व गति, (२) अधोगति और (३) समगति। जब वस्तु का विधान नायक के गुणों की योजना पर आश्रित रहता है तब वस्तु की ऊर्ध्व गति होती है। इसके विरुद्ध जब नायक के दोषों पर वस्तु-विधान अवलंबित रहता है तब उसकी अधोगति होती है। समगति उस समय होती है जब नायक साधारण मानव का-सा व्यवहार करता है। आधुनिक नाटकों के वस्तु-विधान में इन गतियों का विशेष महत्त्व नहीं है। पाश्चात्य नाटककारों के मतानुसार वस्तु की योजना घटनाओं की समता और विषमता पर अवलंबित रहती हैं। इसलिए उसमें बाह्य द्वन्द्व और अन्तर्द्वन्द्व, दोनों का समुचित प्रयोग किया जाता है। नाटकीय विधान में इसकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं—(१) द्वन्द्वात्मक वातावरण (२) द्वन्द्व का विस्तार, (३) चरम सीमा, (४) अपकर्ष, अवरोह अथवा फल की सूचना और (५) फल की प्राप्ति। संस्कृत के नाटकाचार्यों ने भी कथा-वस्तु की ऐसी ही पाँच अवस्थाएँ मानी हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। इन अवस्थाओं का स्पष्टीकरण आगे के पृष्ठ पर दिये हुए चित्र द्वारा किया जाता है।

अ से ब तक की अवस्था नाटकीय कथा-वस्तु में प्रारंभिक अवस्था होती है। इस अवस्था से द्वन्द्व का आरंभ होता है। यह द्वन्द्व, आन्तरिक और बाह्य, दोनों प्रकार का हो सकता है। इस अवस्था को हम प्रारंभिक द्वन्द्वात्मक वातावरण कह सकते हैं। इसके पश्चात् ब से स तक द्वन्द्व में गति और तीव्रता आती है और शनैः शनैः उसका विकास होता है। इस अवस्था को हम संघर्ष अथवा द्वन्द्व का उत्कर्ष कह सकते हैं। जब

यही द्वन्द्व अपनी सीमा पर पहुँच जाता है अर्थात् एक ऐसी स्थिति पर आ जाता है जहाँ से विजय अथवा पराजय का आभास मिलने लगता है

कथा-वस्तु की गति

तब चरम सीमा का अभ्युदय होता है। स बिन्दु पर द्वन्द्व अपने पूर्ण विकास पर होता है। स से द तक की अवस्था संशय पूर्ण होती है। विजय होगी अथवा पराजय—यह निश्चय नहीं हो पाता, पर स से आरम्भ होकर द तक आते-आते अवस्था स्पष्ट हो जाती है और दोनों में से एक की स्पष्ट सूचना मिल जाती है जो द से य तक निश्चित हो जाती है। इसे अपकर्ष कह सकते हैं। अन्त में कार्य सिद्ध हो जाता है इसे फल-प्राप्ति कह सकते हैं। इन पाँच अवस्थाओं से नाटकीय गति का स्पष्ट आभास मिल जाता है। इस सम्बन्ध में एक बात ध्यान रखने की है। हमारे प्राचीन नाटकों में संघर्ष होता अवश्य था, पर उसे महत्त्व नहीं दिया जाता था। पाश्चात्य नाटककार संघर्ष को ही अधिक महत्त्व देते हैं और पात्रों को संघर्षमय परिस्थितियों में डालकर ही उनका चरित्र-चित्रण करते हैं।

(३) चरित्र-चित्रण—आधुनिक नाटकीय विधान में चरित्र-चित्रण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। वास्तव में इसी की सफलता पर समस्त नाटकीय कथा-वस्तु की सफलता निर्भर करती है। प्राचीन नाटकों में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। उनमें पात्र आदर्शवादी होते थे। अतएव उनके चरित्र का केवल उद्घाटन होना

था। आधुनिक नाटकों में यह बात नहीं है। पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार आधुनिक नाटकों के पात्र यथार्थवादी होते हैं। अतएव उनका स्वाभाविक चरित्र-चित्रण ही नाटक की सफलता का मापदंड माना जाता है। यह चरित्र-चित्रण जितना संक्षेप और नाटककार के व्यक्तित्व से अप्रभावित रहता है उतना ही प्रभावशाली और वास्तविक होता है। इसे परखने के निम्न साधन हैं:—

[१] आकृति-द्वारा चरित्र-चित्रण—किसी पात्र का प्रथम दर्शन ही उसके चरित्र के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें बता देता है। पात्र की वेश-भूषा, उसके आकार-प्रकार, उसकी मुख-मुद्रा, उसकी चाल-ढाल, उसकी आकृति आदि से अनुभवशील व्यक्ति उसके चरित्र के बारे में रहस्यपूर्ण बातें जान लेते हैं। अतः नाटककार को अपने पात्रों की सजावट में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। संस्कृत और पाश्चात्य नाटकों में इसका विधान विशेष रूप से पाया जाता है।

[२] वाणी-द्वारा चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण का दूसरा साधन है वाणी। अनुभवशील व्यक्ति वाणी-द्वारा मनुष्य की पहचान करने में बड़े दक्ष होते हैं। कोयल और कौवे की पहचान वाणी-द्वारा ही होती है। वाणी की गंभीरता, मृदुता, सरसता, कठोरता अथवा कर्कशता द्वारा पात्रों के हृदय के भाव आसानी से जाने जा सकते हैं। वाणी ही आन्तरिक भावों का बाह्य रूप है। पात्र कैसी भाषा बोलता है? कैसे शब्दों और कैसे वाक्यों का प्रयोग करता है?—इन सब बातों से जहाँ पात्र की योग्यता और उसके मानसिक विकास का पता चलता है, वहाँ यह भी ज्ञात हो जाता है कि वह किस प्रकार का व्यक्ति है? वह उच्च श्रेणी का है अथवा निम्न श्रेणी का; वह उदार है अथवा अनुदार; वह असभ्य है अथवा असभ्य; वह नागरिक है अथवा ग्रामीण। वाणी मनुष्य की पहचान में बहुत सहायक होती है।

[३] अन्य पात्रों-द्वारा चरित्र-चित्रण—किसी पात्र के चरित्र-चित्रण में उसके संबंध में कही गयी अन्य पात्रों की बातों से भी बड़ी

सहायता मिलती है । हम अपने प्रति दिन के व्यवहार में बहुधा इसी प्रक्रिया से काम लेते हैं। यही बात एक नाटककार अपने पात्रों के विषय में भी किया करता है। पात्र की वेश-भूषा, उसकी वाणी तथा उसकी आकृति आदि से हमें जो बातें ज्ञात होती हैं उनके अतिरिक्त हमें बहुत कुछ उसके उन साथियों से मालूम होता रहता है जो उसके चरित्र के संबन्ध में समय-समय पर अपना मत प्रकट किया करते हैं।

[४] अन्य पात्रों के संबंध में कही गयी बातों-द्वारा चरित्र-चित्रण—कोई पात्र अन्य पात्रों के सम्बन्ध में अपनी क्या धारणा रखता है!—इससे भी चरित्र-चित्रण में विशेष सहायता मिलती है। परिस्थितियों के अनुसार एक पात्र अन्य पात्रों के सम्बन्ध में अपने विचार बदला करता है। जिस पात्र को वह एक परिस्थिति में अच्छा समझता है उसी को दूसरी परिस्थिति में वह बुरा समझने लगता है। ऐसी दशा में परिस्थितियों एवं परस्पर विरोधी मतों के अध्ययन-द्वारा पात्र-विशेष के चरित्र का अवलोकन एवं निरीक्षण करके हमें अपना निर्णय देना पड़ता है।

[५] आत्म भाषण-द्वारा चरित्र-चित्रण—किसी पात्र के चरित्र को परखने के लिए उसके उन विचारों से भी सहायता लेनी पड़ती है जो वह समय-समय पर अपने संबंध में व्यक्त किया करता है। बहुतसे मनुष्य कहते कुछ और करते कुछ और हैं। ऐसे पात्रों की मानसिक स्थिति का रहस्य समझना अत्यंत कठिन होता है। नाटककार बड़ी सरलता से इस रहस्य का उद्घाटन करता है और ऐसे पात्र का चरित्र स्पष्ट कर देता है।

[६] स्वगत भाषण-द्वारा चरित्र-चित्रण—पात्रों का चरित्र परखने में आत्म-भाषण की ही भाँति स्वगत भाषण से भी सहायता मिलती है। हम बता चुके हैं कि कभी-कभी पात्र अपने मन की गुप्त भावनाओं को रंगमंच पर इस प्रकार प्रकट करते हैं कि दूसरे पात्र उसे सुन नहीं सकते, पर दर्शक उसे सुनकर उसके सम्बन्ध में एक निश्चित धारणा बना लेते हैं। पात्र के मनोगत रहस्यों का भेद इस साधन-द्वारा सरलता से स्पष्ट हो जाता है जिससे चरित्र-चित्रण में बड़ी सहायता मिलती है।

[ग] कार्य-व्यापार द्वारा चरित्र-चित्रण—पात्रों के कार्य-व्यापार द्वारा भी उनके चरित्र को समझने में विशेष सहायता मिलती है। कोई पात्र क्या करता है ?, किस प्रकार करता है ? और क्यों करता है ?—इन प्रश्नों का उसके चरित्र से विशेष सम्बन्ध रहता है। नाटककार पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय इन प्रश्नों पर विशेष रूप से ध्यान रखता है और प्रत्येक परिस्थिति में पात्रों की योग्यता और उनकी स्थिति के अनुकूल इनका उत्तर देता है। ऐसी दशा में वह रंगमंच पर कोई ऐसा कार्य नहीं होने देता जिसका पात्रों के साथ सीधा सम्बन्ध न हो। वह रंगमंच पर घटित होनेवाली, महान अथवा सामान्य, सभी प्रकार की घटनाओं के लिए पर्याप्त कारण और पर्याप्त क्षेत्र उपस्थित करता रहता है। वह व्यापार के अनुरूप पात्र और पात्र के अनुरूप व्यापार की सृष्टि करता है और नाटक के प्रयोजन-द्वारा दोनों में सामंजस्य स्थापित करता है। अतः कार्य-व्यापार द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय नाटक के प्रयोजन पर ध्यान रखना परम आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चरित्र-चित्रण ही वह तत्त्व है जिस पर नाटक की सफलता का संपूर्ण भार है। ऐसी दशा में नाटककार को बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। उसे अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण उनकी योग्यता, परिस्थिति, वातावरण, देश-काल और आदर्श के अनुरूप यथावत् करना चाहिए। उनके गुणों के साथ-साथ उनके दोषों का भी चित्रण बड़ी सावधानी से होना चाहिए और उनके चरित्र का विकास, ह्रास अथवा उसमें परिवर्तन सकारण होना चाहिए। समय और परिस्थितियों के हेर-फेर से उनके विचारों में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है, पर इसके साथ ही उनमें साम्य होना भी आवश्यक है। यदि उनमें साम्य न हुआ तो चरित्र-चित्रण अपूर्ण रह जायगा और नाटककार अपने उद्देश्य में कभी सफल नहीं होगा।

(४) कथोपकथन—कथोपकथन नाटक का चौथा तत्त्व है। इसका अर्थ है पात्रों का पारस्परिक वार्तालाप। कथा-वस्तु और चरित्र-चित्रण

का समस्त भार इसी तत्त्व पर निर्भर करता है। वास्तव में उक्त दोनों तत्त्वों का यही तत्त्व सर्वस्व है। हम बता चुके हैं कि नाटक में नाटककार को अपनी ओर से कुछ कहने अथवा टीका-टिप्पणी करने का अधिकार नहीं होता। उसे जो कुछ कहना होता है, उसे वह पात्रों के कथोपकथन-द्वारा ही व्यक्त करता है। इसी के सहारे वह अपने विचारों, सिद्धान्तों और आदर्शों को जनता के समक्ष उपस्थित करता है और जन जीवन की आलोचना करता है। वह अव्यक्त रहकर पात्रों के रूप में व्यक्त होता है और यही वह कला है जिसके सफल निदर्शन एवं निर्वाह में नाटक की लोक-प्रियता निहित रहती है।

कथोपकथन की दो वृत्तियाँ होती हैं—(१) उपयोगिनी और (२) अनुपयोगिनी। उपयोगिनी कथोपकथन वह होता है जो कथा-वस्तु को गति प्रदान करता है; पात्रों के विचारों, उनके मनोवेगों तथा उनके धार्मिक स्तरों को प्रसारित करता है और नाटकीय विधान का वर्णन करता है। इसके विरुद्ध अनुपयोगी कथोपकथन अपनी काल्पनिक विशदता से दर्शकों की रुचि को विकसित करता है। इससे स्पष्ट है कि सामान्य वार्तालाप और नाटकीय कथोपकथन दोनों एक नहीं हैं। सामान्य वार्तालाप लक्ष्यहीन होता है। वह असंयत, उखड़ा-पुखड़ा और विषयान्तर होता है। नाटकीय कथोपकथन पर उन सब बातों का भरपूर नियन्त्रण रहता है जो दृश्य-निर्माण में सहायक होती हैं। नाटकीय कथोपकथन कथा-वस्तु को गतिशील बनाता है और उसे नाटक के लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है। अब प्रश्न यह है कि वह अपने इस गुरुतर कार्य को किस प्रकार संपन्न करता है? नाट्य-कला-विशारदों ने इसके दो प्रमुख साधन बताये हैं—(१) सहकारी और (२) सूच्य। जब रंगमंच पर दिखाये जानेवाले कार्य-व्यापार के प्रति दर्शकों के हृदय में कथोपकथन-द्वारा विश्वास उत्पन्न किया जाता है तब उसका रूप सहकारी होता है। इसके विरुद्ध जब कथोपकथन-द्वारा रंगमंच पर न दिखाये जानेवाले कार्य-व्यापार की सूचना दर्शकों को देने की आवश्यकता

ध्यान रखना पड़ता है। ऐसी स्थिति में नाटक की भाषा का सरल और सुबोध होना भी आवश्यक है। अभिनय होते समय यदि भाषा की दुरूहता एवं गम्भीरता और कथोपकथन की दीर्घता के कारण दर्शक नाटककार के भावों को हृदयंगम न कर सके तो उनका जी ऊब जायगा और अभिनय का उद्देश्य ही नष्ट हो जायगा। जी का ऊब जाना नाटक की नाटकीयता के लिए अत्यन्त घातक है। ऐसी दशा में कथोपकथन को जीवन में व्यवहृत होनेवाले वार्तालाप के अनुरूप बनाकर उसे साहित्यिक रूप देना एक सफल नाटककार का प्रथम कर्त्तव्य है। वास्तव में कथोपकथन की भाषा ही नाटक का सर्वस्व है। कथोपकथन की भाषा जितनी स्पष्ट, सरल, सुबोध, प्रसंगानुसार, स्वाभाविक, प्रभावपूर्ण, मार्मिक, संयत और व्यंजक होती है उतनी ही वह दर्शकों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करने में सफल होती है और नाटककार की कला की उत्कृष्टता प्रमाणित करती है। नाटक में कथा-वस्तु और चरित्र-चित्रण की शिथिलता क्षन्तव्य हो सकती है, पर भाषा की शिथिलता तो किसी भी दशा में क्षम्य नहीं है। जो नाटककार भाषा नहीं जानता, उसे न तो रंगमंच पर आने का साहस करना चाहिए और न लेखनी उठाकर नाटक लिखने की मूर्खता। जो आलोचक नाटक की भाषा के सम्बन्ध में किसी सिद्धान्त-विशेष के पक्षपाती हैं वे भी भूल करते हैं। नाटक नाटककार की प्रतिभा और उसकी कला का विकासस्थल है। अपने इस क्षेत्र में वह पूर्ण स्वतन्त्र है। प्रसंग और परिस्थिति के अनुकूल वह अपने जिस पात्र से जो भाषा चाहे बोलवा सकता है और उसी में उसकी नाटकीय कला का रहस्य निहित है।

(५) देश-काल-विधान—हमने अबतक नाटक के जिन तत्त्वों पर विचार किया है उनके अतिरिक्त देश-काल-विधान भी उसका एक तत्त्व माना जाता है। इस तत्त्व के अनुसार नाटककार का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी रचना में थोड़े-बहुत विस्तार के साथ देश और काल के उस विधान का भी निदर्शन करा दे जिसमें उसके द्वारा वर्णित घटनाएँ

घटित हुई है। कहने का तात्पर्य यह कि कथा-वस्तु की प्रत्येक घटना और उससे संबंधित प्रत्येक पात्र को उस देश के तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक वातावरण के अनुरूप चित्रित करना चाहिए जिससे उसका संबंध है। शिवाजी को आज के वातावरण और आज की वेश-भूषा में दिखाना असंगत ही नहीं, नाटकीय कला का उपहास करना होगा। इसी प्रकार अँगरेजी रंगमंच पर भारतीय पात्रों को उतारना अनुचित और हास्यास्पद होगा। इससे स्पष्ट है कि नाटकीय कला को उन्नत रूप देने के लिए देश-काल के अनुसार रंगमंच के शृंगार एवं पात्रों की वेश-भूषा पर ध्यान रखना परम आवश्यक है। इसके लिए नाटककार को दृश्य आरंभ करने के पहले ही थोड़े शब्दों में संकेत कर देना चाहिए। हिन्दी-नाटकों में रंग-संकेत बहुत ही कम लिखे जाते हैं। हमारे नाटककारों में अपने विचारानुसार रंगमंच पर पात्रों को उतारने और उनसे अपने मनोनुकूल अभिनय कराने की रुचि ही नहीं है। वे अपने पात्रों के कथोपकथन में अपने हृदय के सभी विचारों को भर देना ही अपने कार्य की इतिश्री समझते हैं। ऐसी दशा में रंग-मंच-संचालक और नाटककार दोनों प्रायः एक-दूसरे के विरोधी बन जाते हैं। पाश्चात्य नाटककार अपने अंक के अनुकूल जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता रंगमंच पर समझते हैं उन सबका पूर्व ही निर्देश कर देते हैं और रंगमंच-संचालक को उन्हीं के अनुसार कार्य करने के लिए विवश करते हैं। इससे नाटककार जनता के समक्ष मनोनुकूल वातावरण की सृष्टि में सफल होता है और रंगमंच पर संचालक को इधर-उधर भटकने का अवसर नहीं देता।

(६) उद्देश्य—नाटक का अन्तिम तत्त्व है उसका उद्देश्य। सामान्यतः अन्य साहित्यांगों की भाँति नाटक का भी उद्देश्य जीवन की व्याख्या अथवा आलोचना करना है। नाटककार अपनी रचना-द्वारा जीवन के किस पक्ष की आलोचना करना चाहता है और आलोचना के आधार पर वह किस सिद्धान्त को चरितार्थ करना चाहता है!—आदि

प्रश्न नाटक देखने के पूर्व जागरूक जनता के हृदय में उठते हैं और वे इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर पाने के लिए ही नाटक देखने जाते हैं। इसी बात को यदि हम यों कहें कि नाटककार वस्तुतः जीवन-संबंधी इन्हीं प्रश्नों अथवा समस्याओं को लेकर अपनी रचना के कथानक का साँचा तैयार करता है तो अनुचित न होगा। इससे स्पष्ट है कि नाटक का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन प्रस्तुत करना ही नहीं, अपितु उसके द्वारा जनता के समक्ष कुछ विचार-सामग्री प्रस्तुत करके उसके हृदय को आन्दोलित और उसके मस्तिष्क को क्रियाशील बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाटककार नीति, राजनीति, देश-भक्ति, धर्म, मानवता, विश्व-बंधुत्व आदि कोई भी विषय चुन सकता है, पर उसका वास्तविक उद्देश्य *मानव-जीवन का आदर्श एवं यथार्थ चित्रण ही है*। कहने का तात्पर्य यह कि मानव-जीवन में जो सत्-असत्, जल और मिश्री के समान, घुला-मिला है उसका चित्रण करना, उसका स्पष्टीकरण करना ही नाटककार का मुख्य उद्देश्य है। मानव में अनेक विभिन्न, विपरीत एवं विरोधी अन्तःवृत्तियाँ पायी जाती हैं। किसी समय उसमें इनमें से कोई प्रवृत्ति प्रधान रहती है और *किसी समय कोई अन्य*। एक ही मनुष्य में देश, काल और परिस्थितियों के कारण उनमें बराबर परिवर्तन होता रहता है। ऐसी दशा में नाटककार को बड़ी सावधानी से अपने समस्त पात्रों को एक उद्देश्य-सूत्र में बाँधना पड़ता है और उन्हें एक संकुचित सीमा के भीतर रखकर अप्रत्यक्ष रूप से जीवन के अपेक्षित पक्ष की आलोचना करनी पड़ती है।

अब प्रश्न यह है कि नाटककार अपनी रचना में किस साधन-द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है? पाश्चात्य कलाकारों का कहना है कि यूनानी प्राचीन नाटकों में गायकों के मुँह से जो बातें निकलती थीं उनमें जीवन विषयक तत्त्वज्ञान का निष्कर्ष रहता था। आधुनिक नाटकों में गायकों का कोई स्थान नहीं है। अतएव इस कार्य के सम्पादन के लिए नाटककार को अपने समस्त पात्रों में से एक ऐसे पात्र का चयन

करना पड़ता है जिसका मुख्य कथा-वस्तु के साथ विशेष संबंध नहीं रहता, पर वह नाटककार के विचारों का वाहक अवश्य होता है। हम अभी बता चुके हैं कि आधुनिक नाटकों का मुख्य उद्देश्य प्रेक्षकों के सम्मुख जीवन की सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याएँ प्रस्तुत करना है। इन समस्याओं से संबंध रखनेवाले सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए नाटककार अपनी रचना में एक ऐसे पात्र को जन्म देता है जो आदि से अन्त तक संपूर्ण कथावस्तु में एक वैज्ञानिक दर्शक की भाँति उपस्थित रहकर अपने जनक की विचार-धारा को प्रेक्षकों के समक्ष प्रस्तुत करता रहता है। नाटक में उसका स्थान अन्य पात्रों से पृथक् नहीं होता। मुख्य कथावस्तु के साथ उसका व्यक्तित्व इतना संघटित होता है कि वह नाटक में असंबद्ध व्यक्ति न प्रतीत होकर उसका एक अविभाज्य अंग बन जाता है। कभी-कभी सामान्य पात्रों-द्वारा ही यह कार्य संपादन कराना नाटककार के लिए श्रेयस्कर होता है। वस्तुतः रंगमंच पर जो सृष्टि दिखायी देती है उसका स्रष्टा नाटककार होता है। ऐसी दशा में उसकी रचना में उसके भावों, विचारों तथा सिद्धांतों आदि का समा जाना अनिवार्य एवं स्वाभाविक ही है। उसकी साहित्यिक कृति से हमें इस बात का आभास मिलना चाहिए कि वह इस संसार को किस दृष्टि से देखता है ?, वह उसका क्या तात्पर्य समझता है ? और वह उसके किन नैतिक आदर्शों को जीवनोपयोगी मानता है ? यदि कोई नाटककार अपनी रचना-द्वारा इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर दे सकता है तो वह अपनी रचना में सफल है।

यह तो हुआ पाश्चात्य नाट्यकला की दृष्टि से उद्देश्य का विवेचन। हम पहले बता चुके हैं कि भारतीय नाटकों में उक्त प्रकार के उद्देश्य का कोई स्थान नहीं था और यदि किसी अर्थ में था भी तो वह था केवलरस-परिपाक-द्वारा प्रकारान्तर से पुण्य और पाप की व्याख्या जिसमें असत् पर सत् की, अन्याय पर न्याय की और अमंगल पर मंगल की विजय घोषित की जाती थी। मानव की दुर्दम प्रवृत्तियों को शासन,

दमन और पीड़न से हिंस्र पशुओं की भाँति संयत करके रखने की अपेक्षा उन्हें सौंदर्य से, प्रेम से, मंगल से समूल नष्ट करना ही हमारे प्राचीन नाट्यकारों का एकमात्र उद्देश्य था। बल को बल से, अग्नि को अग्नि से शांत करना कठिन है। इन उपायों से जीवन की दुरंत प्रवृत्तियाँ शान्त नहीं हो सकतीं। उनके दावानल क तो अनुतप्त हृदय के अश्रु ही शान्त कर सकते हैं। जीवन की व्याख्या के इसी आदर्श को ध्यान में रखकर हमारे आचार्यों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि को ही नाटकीय कथा-वस्तु के फल अथवा उसके कार्य के रूप में स्वीकार किया था। कहने का तात्पर्य यह कि इन चारों अथवा इनमें से किसी एक की निष्पत्ति होना आवश्यक था। जिस नाटक मे इनमें से किसी एक तत्त्व की भी प्राप्ति नहीं होती थी, वह व्यर्थ समझा जाता था। इस प्रकार जीवन के मंगलमय रूप का प्रदर्शन ही हमारे नाट्य-साहित्य का एकमात्र उद्देश्य होता था। आज पाश्चात्य नाट्य परंपराओं के प्रभाव से हमारी चिन्तन-धारा में विशेष परिवर्तन हो गया है और इस कारण हमारा नाट्य-साहित्य नित नूतन रूप धारण करता जा रहा है, पर भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के अनुकूल वह उसी अवस्था में समझा जायगा जब उसमें आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन-निर्माण की शक्ति होगी और वह अधिक से अधिक मानव का कल्याण करने में समर्थ होगा।

नाटकीय विधान में संकलनत्रय का महत्त्व

अभी हमने संक्षेप में नाटकीय तत्त्वों पर विचार किया है। इन तत्त्वों के अतिरिक्त नाटकीय वस्तु, स्थल तथा काल के सम्बन्ध में हमें एक बात पर और ध्यान देना है। नाटकीय विधान में इसे संकलनत्रय कहते हैं। हम संकलनत्रय का अन्यत्र उल्लेख कर चुके हैं। इसके अनुसार प्राचीन यूनानी नाटककारों ने यह सिद्धान्त स्थिर किया था कि आदि से अन्त तक समस्त अभिनय किसी एक ही कृत्य, किसी एक ही स्थान और एक ही दिन का होना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन नाटकों में स्थान, समय और कार्य की एकता पर

विशेष रूप से ध्यान दिया जाता था। उस समय के नाटककार चाहते थे कि नाटक में जो घटनाएँ दिखायी जायँ, उनका सम्बन्ध एक ही स्थान से हो। इसे वे स्थल-संकलन कहते थे। एक दृश्य प्रयाग का और दूसरा काशी का दिखाना नाट्य-कला की दृष्टि से वे उपयुक्त नहीं समझते थे। इसी प्रकार नाटक-रचना में समय की एकता अथवा काल-संकलन आवश्यक अंग माना जाता था। इसके अनुसार जो घटना नाटक में दिखायी जाती थी वह वास्तव में उतने ही समय की होती थी जितना कि उसके अभिनय में लगता था। ऐसा करने से वास्तविक समय का रंगमंच के समय से ऐक्य हो जाता था। इन दोनों प्रकार के संकलनों के अतिरिक्त कथा-वस्तु की एकरसता पर भी ध्यान दिया जाता था। इसलिए उसकी एकरसता के सफल निर्वाह के लिए नाटकीय कथा-विधान में प्रासंगिक कथाओं को स्थान नहीं दिया जाता था। इस नियम को कार्य की एकता अथवा कार्य-संकलन कहते थे।

संकलनत्रय के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यूनानी कलाकारों ने अपने रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुरूप ही काल, कार्य और स्थल की एकता पर बल दिया था। वे अपने नाटकों में दृश्य-परिवर्तन नहीं करते थे। दो दृश्यों में अन्तर दिखाने के लिए वे सामूहिक गान अथवा कोरस की सृष्टि करते थे। यही वास्तव में पर्दे का काम करता था। इस प्रकार रंगमंच पर स्थान-परिवर्तन नहीं होता था। समय की काट-छाँट में भी उनका विश्वास नहीं था। उनके नाटक दिन-दिन भर और रात-रात भर होते रहते थे। ऐसी दशा में काल की एकता के साथ-साथ कार्य की एकता भी एक अनुचित सीमा तक पहुँच जाती थी। यह उनके अनुकरण-प्रधान आदर्श का फल था। वे रंगमंच और वास्तविक घटनाओं में भेद नहीं रखना चाहते थे। नाटक-रचना का यह नियम यूनान से इटली में और इटली से फ्रांस में पहुँचा जहाँ बहुत दिनों तक इसका पालन होता रहा; पर ज्यों-ज्यों कला का क्षेत्र विकसित होता गया त्यों-त्यों उत्कृष्ट कलाकारों ने इस नियम का विरोध करना

आरम्भ किया। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि कला अनुकरण-मात्र नहीं है। उसमें चयन का भी स्थान है। इसके अतिरिक्त उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सामाजिक जीवन की जटिलता ने भी इस नियम के विरोध में उन कलाकारों को भरपूर सहयोग दिया। फलतः शेक्सपियर ने अपने नाटकों में इस नियम का पालन नहीं किया। संस्कृत-नाटक तो इससे सर्वथा दूर ही रहे। नाटक-रचना में उन्होंने न तो स्थल-सकलन पर बल दिया और न काल-संकलन की ही अधिक चिन्ता की। उन्होंने एक उचित सीमा के भीतर ही कार्य, काल तथा स्थल की एकता स्वीकार की। कार्य की एकता को नाटक का आवश्यक तत्त्व मानते हुए भी वे उसकी शुष्क वैविध्यहीनता में विश्वास नहीं करते थे। अनेकता में एकता स्थापित करना वस्तु-सगठन की दृष्टि से वे अत्यन्त आवश्यक समझते थे। इसीलिए प्रासंगिक कथाओं का सर्वथा वहिष्कार करके नाटक में एकरसता की सृष्टि करना कला की दृष्टि से वे उपयुक्त नहीं मानते थे। कालान्तर में अँगरेजी-साहित्य में जब रोमांटिक विचार-धारा को स्थान मिला तब उसके समर्थकों ने भी कार्य-सकलन को उसके व्यापक अर्थ में स्वीकार किया। इस प्रकार धीरे-धीरे पाश्चात्य नाट्य-साहित्य से संकलनत्रय का वहिष्कार होता रहा, और आज जब मानव समाज पहले की अपेक्षा अत्यन्त जटिल और उसके सम्बन्ध का जाल अधिक विस्तृत हो गया है तब नाट्य-साहित्य में उसका क्या महत्त्व है !—यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

नाटकीय विधान में संगीत का महत्त्व

नाटकीय विधान में संगीत का क्या महत्त्व होना चाहिए !—यह प्रश्न भी अन्य प्रश्नों की भाँति अत्यन्त जटिल और विवाद-ग्रस्त है। संगीत की उपयुक्तता के सम्बन्ध में हमारे प्राचीन नाटककारों एवं आचार्यों का मत स्पष्ट था। भाव-विभाव आदि के प्रकाशन तथा रसों के परिपाक के लिए वे सगीत को नाटकीय विधान का एक आवश्यक अंग मानते थे। सामवेद से गायन लेकर नाट्य-कला की

रूपरेखा स्थिर करनेका अर्थ ही यह होता है कि संगीत अभिनय का अभिन्न अंग है। 'गीतं, वाद्यं, नर्तनं च त्रयं संगीतमुच्यते' अर्थात् गायन, वादन और नृत्य—इन तीनों की समष्टि से संगीत का जन्म होता है। हमारे प्राचीन आचार्य नाटकीय विधान में तीन दृष्टियों से इन तीनों का औचित्य स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि भाव-विभाव आदि के प्रकाशन, रसों के परिपाक और दर्शकों के मनोरंजन के लिए अभिनय में गायन, वादन और नृत्य—तीनों का उत्क्रम होना चाहिए। बीसवीं शताब्दी-पूर्व के पाश्चात्य नाटककारों ने भी इन्हीं दृष्टियों से अपने नाटकों में संगीत का विधान किया है। हिन्दी-नाट्य-कला के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो संगीत-कला के परम पक्षपाती थे। उन्होंने अपने नाटकों में संगीत को विशेष रूप से स्थान दिया। उनकी मृत्यु के पश्चात् हिन्दी-नाट्य-साहित्य के इतिहास में जब प्रसादजी के रोमांटिक नाटकों का आरम्भ हुआ तब भी अभिनय में संगीत को उचित स्थान मिला। प्रसादजी ने अपने नाटकों में संगीत को विशेष महत्त्व दिया और उनके समकालीन नाटककारों ने भी उसे अपनाया। पर आगे चलकर जब हिन्दी-नाट्य-कला पर इब्सेन आदि पाश्चात्य नाटककारों का प्रभाव पड़ा और बुद्धिवादी साहित्यकारों का आविर्भाव हुआ तब अभिनय में संगीत की उपेक्षा की जाने लगी। इस सम्बन्ध में बुद्धिवादी नाटककार पं० लक्ष्मीनारायण का मत विशेष रूप से विचारणीय है। उन्होंने अपने 'नाटक मुक्ति का रहस्य' की भूमिका में लिखा है—'मेरी राय में नाटक में गीत-रचना कोई बहुत जरूरी नहीं है। कभी-कभी तो गीत समस्याओं के प्रदर्शन में बाधक हो उठते हैं। इस युग में नाटक का उद्देश्य मनोरंजन की बेहूदा धारणा से आगे बढ़ गया है। जीवन की जटिलता और गूढ़ रहस्यों को खोलकर दिखलाने का काम आजकल नाटकों-द्वारा जितनी सुगमता से हो सकता है, साहित्य के किसी भी अन्य विभाग से उस सुगमता के साथ नहीं हो सकता। रंग-मंच के ऊपर कृष्ण भी गा रहे हैं, शिव भी गा रहे हैं, दुर्गा भी गा रही हैं, गणेश भी गा रहे हैं—

यह अच्छा नहीं है। नाटक में गीत का पक्षपाती मैं वहीं तक हूँ, जहाँ तक इसे जीवन में देख पाता हूँ। जिस किसी चरित्र का स्वाभाविक झुकाव मैं संगीत की ओर देखूँगा, उसके द्वारा दो-चार गीत गवा देना मैं मुनासिब समझूँगा।'

संगीत के सम्बन्ध में मिश्रजी के उपर्युक्त विचारों की कोई भी कलाकार उपेक्षा नहीं कर सकता। अभिनय में देश, काल और पात्र के अनुसार संगीत का आयोजन स्वाभाविक ही होता है। वियोग के अवसर पर संगीत का स्वर दर्शकों के लिए कर्ण-सुखद भले ही हो, पर उससे तत्सम्बन्धी विषय की ओर से चित्त हट जाता है और रस के परिपाक में बाधा पड़ती है। इसी प्रकार देवताओं, नायकों अथवा नायिकाओं से गवाना अवांछनीय है। संगीत अवसर के अनुकूल होना चाहिए और उन्हीं पात्रों से गवाना चाहिए जो इस कार्य के लिए उपयुक्त और इस कला के मर्मज्ञ हैं। हरिश्चन्द्र नाटक का अभिनय करते समय यदि हरिश्चन्द्र अथवा शैव्या से गाने गवाये जायँ तो हास्यास्पद ही होगा। सिनेमा-घरों में आजकल जैसे अभिनयों का प्रदर्शन हो रहा है और उनमें संगीत का जिस प्रकार आयोजन किया जाता है वह सर्वथा असंगत और अस्वाभाविक है। उससे हमारा मनोरंजन अवश्य हो जाता है, पर हमारी रुचि परिष्कृत नहीं होती। अभिनय का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं, रुचि का परिष्कार भी है।

संगीत मानसिक व्यायाम है। जिस प्रकार व्यायाम करने से शरीर को शक्ति और स्फूर्ति मिलती है उसी प्रकार संगीत से मस्तिष्क को गति और चेतना प्राप्त होती है। मानसिक शैथिल्य दूर करने के लिए संगीत रामबाण है। उससे हमारी सुप्त भावनाएँ जागरित होती हैं और हृदय में नवीन अनुभूतियों का उदय होता है। हृदय और मस्तिष्क में समन्वय स्थापित करने का भी यही सर्वोत्तम साधन है। इसीलिए हमारे प्राचीन नाटककारों ने अपनी रचनाओं में इसको उचित स्थान दिया है। उनके अनुसार अभिनय आरम्भ होने के पहले रंग-मंच के भीतरी

भाग में गायन-वादन—नेपथ्य संगीतक—का आयोजन होता है। इसका उद्देश्य उपस्थित दर्शकों का मनोरंजन-मात्र है। इसके पश्चात् पूर्वरंग—कुशलपूर्वक नाटक की समाप्ति के लिए किये जानेवाले कृत्य के शास्त्रीय विधान—में भी मंगल-पाठ आदि होता है। संगीत के साथ ही नृत्य का, भी समुचित विधान रहता है। नृत्य और नृत तो रूपक के उपकरण माने गये हैं। नृत्य में आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है और अभिनय-रहित केवल नाचना नृत कहलाता है। इन दोनों के साथ गीत और कथन का संयोग होने से रूपक का पूर्ण रूप उपस्थित होता है। नृत के अनेक भेद हैं जिनमें से 'तांडव' और 'लास्य' ही प्रमुख हैं। ताडव नृत्य भगवान् शकर की देन है। यह पौरुषेय और कठोर होता है। पूर्वरंग में इसी का विधान मिलता है। नाटकीय दृश्यों की भिन्न-भिन्न जीवन-परिस्थितियों को प्रभावशाली बनाने के लिए संगीत का किस रूप में उपयोग किया जाय?— इस बात पर भली भाँति विचार करके 'लास्य' के दस भेद किये गये हैं। उन भेदों का सविस्तर वर्णन शास्त्रीय ग्रंथों में मिलता है। उनके विवरण से हमें ज्ञात होता है कि रसों तथा जीवन-परिस्थियों के अनुकूल उपयुक्त गीतों का नाटकों में समावेश होना चाहिए। संगीतहीन नाटक कोरा वाग्विलास है जिससे हमारे मस्तिष्क की भूख तो मिट सकती है, पर हृदय को स्फुरण नहीं मिल सकता।

हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव

अबतक हमने हिन्दी की आधुनिक नाट्य-कला के संबंध में जो कुछ विचार किया है उससे स्पष्ट है कि उस पर पाश्चात्य नाट्य-कला का विशेष प्रभाव पड़ा है। हिन्दी की नाट्य-कला का आरंभ भारतेन्दु-काल से माना जाता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु-काल नव-चेतना का युग समझा जाता है। उस युग में अँगरेजी सत्ता अपने चर्मोत्कर्ष पर थी। वेश-भूषा, रहन-सहन और खान-पान की ही नहीं, अँगरेजी भाषा और साहित्य की भी लोक-प्रियता भारत के शिक्षित

समाज में बढ़ रही थी। लोग अँगरेजी वेश-भूषा में रहना, अँगरेजी साहित्य का अध्ययन करना और उसी भाषा में बोलना अपने लिए बड़े गौरव और प्रतिष्ठा की बात समझते थे। इस प्रकार जीवन का प्रत्येक क्षेत्र अँगरेजी सभ्यता, अँगरेजी समाज और अँगरेजी संस्कृति से प्रभावित था। ऐसी दशा में तत्कालीन भारतीय साहित्य पर उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। उस समय अँगरेजी साहित्य ने बँगला साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया। बँगला साहित्यकारों ने अँगरेजी साहित्य की प्रायः सभी विशिष्ट शैलियों और कलाओं को अपनाया और उन्हें अपने ढंग से अपने वातावरण के अनुकूल बनाकर अपने साहित्य में स्थान दिया। इससे थोड़े ही दिनों में बँगला-साहित्य में उत्कृष्ट लेखकों और कवियों का एक ऐसा समुदाय उत्पन्न हो गया जिसने अपनी-अपनी रचनाओं के दान से उसे समृद्धशाली बना दिया। बँगला-नाट्य-साहित्य में द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की बड़ी धूम थी। अँगरेजी नाट्य-कला के आचार्य शेक्सपियर के नाटकों की शैली को अपना आदर्श मानकर उन्होंने जिन नाटकों की रचना की उनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि हिन्दी-साहित्य भी उनसे अछूता न रह सका। हिन्दी में भी शेक्सपियर के कई नाटकों का अनुवाद हुआ और उनकी शैली पर कई स्वतंत्र नाटक लिखे गये। इस प्रकार बँगला नाट्य-साहित्य के सम्पर्क में आने से हिन्दी नाट्य-साहित्य को जो प्रेरणा मिली उसने उसकी कला, उसके रूप और उसके विधान में यथेष्ट परिवर्तन कर दिया। आगे चलकर पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में जब 'इब्सेन' और 'शा' की कृतियाँ समादृत होने लगीं तब हिन्दी में भी उनका प्रचार हुआ और उनसे भी हमारे नाट्य-साहित्य को विशेष उत्तेजना मिली। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी नाट्य-साहित्य पर पाश्चात्य नाट्य साहित्य की मुख्यतः दो शैलियों का प्रभाव पड़ा है। यहाँ हम उन्हीं के संबंध में विचार करेंगे।

(१) शेक्सपियर का प्रभाव—हम बता चुके हैं कि भारतेन्दु-युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नव चेतना का युग था। भारतेन्दु स्वयं

उस युग के प्रवर्तक और संचालक थे। साहित्य के क्षेत्र में उनके नाटकों का बड़ा महत्त्व था। उनकी कुछ रचनाओं पर तो संस्कृत-नाट्य-शैली का प्रभाव था और कुछ पर शेक्सपियर की नाट्य-शैली का। उनकी देखा-देखी कुछ लोगों ने तत्कालीन पारसी रंग-मंचों के अनुकूल भी नाटक लिखे थे। ऐसे नाटकों पर एलिजाबेथ-युग की नाटकीय सीन-सीनरी और अतिनाटकीय तत्त्वों का प्रभाव था। भारतेन्दु-युग के पूर्व हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं था। भारतेन्दु ने इस कमी को भी पूरा किया। वह स्वयं नाट्यकला में निपुण थे और अभिनय में भाग लेते थे। इससे उन्हें रंगमंच के अनुकूल नाटक लिखने में विशेष सुविधा हुई। उनके पश्चात् हिन्दी नाट्य-साहित्य के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद ने प्रवेश किया। उनके स्पर्श से हिन्दी-नाट्य-साहित्य में रोमांटिक प्रवृत्ति का सूत्रपात हुआ। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत सुदर्शन, माखनलाल चतुर्वेदी, बद्रीनाथ भट्ट आदि ने अपनी रचनाओं से हिन्दी-नाट्य-साहित्य के एक विशेष अभाव की पूर्ति की। यह प्रवृत्ति पाश्चात्य नाटकों की देन थी। कहने का तात्पर्य यह कि भारतेन्दु-युग से प्रसाद-युग तक हिन्दी में जो नाटक लिखे गये उन पर शेक्सपियर की नाट्य-कला का विशेष प्रभाव पड़ा। इस प्रभाव ने हिन्दी-नाटकों की रूप-रेखा ही बदल दी। कथावस्तु की दृष्टि से यदि देखा जाय तो पता चलेगा कि पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथानकों के अतिरिक्त देश, समाज और जीवन की यथार्थ घटनाओं को लेकर कई नाटकों की रचना हुई और आदर्श के स्थान पर यथार्थ का चित्रण किया गया। इससे कथोपकथन और चरित्र-चित्रण की शैलियाँ भी परिवर्तित हो गयीं। बुद्धि का स्थान भावुकता ने ले लिया, आदर्श चरित्र का स्थान यथार्थ चरित्र ने लिया और चरित्र का विकास स्वाभाविक ढङ्ग से होने लगा। इस आन्तरिक परिवर्तन के साथ-साथ कुछ बाह्य परिवर्तन भी हुए। प्रस्तावना, नान्दीपाठ, मङ्गलाचरण आदि प्रथाओं का लोप हो गया; अंकों के अन्तर्गत गर्भांकों के स्थान पर दृश्य लिखे जाने लगे; प्रवेशकों और संधियों का बहिष्कार किया गया; पृथक-

कथन स्वगत-कथन और पद्य-बद्ध कथन अनावश्यक समझे जाने लगे; निरर्थक और अप्रासंगिक गीतों का समावेश अस्वाभाविक प्रतीत होने लगा; संवादों में तीव्रता और पात्रानुकूलता आ गयी; स्व-कथन की प्रथा का पालन होने लगा और दुखान्त नाटकों की शैली अपनायी जाने लगी। इस प्रकार हिन्दी-नाटकों के आन्तरिक और बाह्य रूपों में विशेष परिवर्तन हो गया।

(२) इब्सेन का प्रभाव—प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् जब राजनीतिक क्षेत्रों में साम्यवाद, समाजवाद आदि नवीन वादों का जन्म और राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीता का द्वन्द्व आरंभ हुआ तब एक बार फिर साहित्यिक आदर्शों ने पलटा खाया। मार्क्सवादी सिद्धान्तों ने मनुष्य को पहले की अपेक्षा अधिक सक्रिय और चिन्तक बना दिया। जीवन की नयी-नयी समस्याएँ उसके सामने आने लगीं और उसके मन और मस्तिष्क को आन्दोलित करने लगीं। इससे मानव-चिन्तन की रूढ़िवादी परम्परा को बड़ा धक्का लगा। जीवन और जगत् की प्रत्येक समस्या तर्क की कसौटी पर कसी जाने लगी। ऐसी अस्त-व्यस्त परिस्थिति में साहित्य अछूता न रह सका। उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक आदि साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों में जीवन की प्रत्येक प्रकार की समस्या पर स्वतंत्र रूप से विचार होने लगा। उचित-अनुचित, पाप-पुण्य, हिंसा-अहिंसा, गुण-दोष की पुरानी परिभाषाएँ एक बार फिर तर्क की तुला पर तौली जाने लगीं और उनका मूल्य परखा जाने लगा। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि जीवन की जितनी भी समस्याएँ हो सकती थीं उन सबका हल बुद्धिवादी दृष्टिकोण से सोचा जाने लगा। इस प्रकार ज्ञान, विज्ञान और मनोविज्ञान ने साहित्य में एक नयी चिन्तन-धारा को, एक नये वाद को जन्म दिया। पाश्चात्य साहित्य में इस नये वाद—बुद्धिवाद—के प्रवर्तक थे इब्सेन।

इब्सेन ने सबसे पहले अपने नाटकों में जीवन की महत्त्वपूर्ण समस्याओं

को वाद-विवाद का विषय बनाया और उसके पक्ष तथा विपक्ष, दोनों का प्रदर्शन किया। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या पहले के नाटकों में जीवन-संबन्धी समस्याओं का अभाव रहता था? और यदि नहीं, तो फिर इब्सेन ने नाट्य-साहित्य में किस नवीन कला को जन्म दिया? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। हमारे प्राचीन नाटकों में भी जीवन की प्रत्येक समस्या को स्थान मिला है। अन्तर केवल इतना ही है कि उस समय हमारे जीवन की समस्याएँ वर्ग-संघर्ष पर आधारित न होकर आध्यात्मिक तत्वों पर आश्रित थीं। उनका संबंध हमारे आध्यात्मिक जगत् से अधिक, हमारे पार्थिव जगत् से कम था। जीवन की आधुनिक समस्याएँ अधिकांश वर्ग-संघर्ष पर आधारित हैं। उनका संबंध आध्यात्मिक जगत् से कम, पार्थिव जगत् से अधिक है। संक्षेप में बुद्धिवादी नाटकों का लक्ष्य है—हमारे राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा आर्थिक जीवन के वैषम्य का प्रदर्शन, हमारे समाज के दिन-प्रतिदिन के द्वन्द्व का चित्रण। वस्तु के इस प्रकार के प्रातीप्य के कारण प्राचीन और आधुनिक नाटकों की शैलियों में भी अन्तर आ गया है। प्राचीन नाटकों में मानवीय भावनाओं का उत्कर्ष तथा आध्यात्मिक शक्ति की पराकाष्ठा का अंकन रहता था और उसके द्वारा प्रेक्षकों को आध्यात्मवाद की शिक्षा दी जाती थी। आधुनिक समस्यात्मक नाटक हमारी व्यक्तिगत न्यूनताओं का प्रदर्शन और हमारे पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक विधान की आलोचना-द्वारा उन न्यूनताओं, उन दोषों पर विजय प्राप्त करने का आदेश देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ हमारे प्राचीन नाटकों की आत्मा आध्यात्मवाद से प्रेरित थी, वहाँ हमारे आज के नाटकों की आत्मा में तर्क का—आलोचना का—निवास है। आज के नाटकों के पात्र न तो अपनी नीयति से उलझते हैं और न अपने चरित्र के वैषम्य से होड़ लेते हैं। उनका प्रधान उद्देश्य है—जीवन की परिस्थितियों के अखाड़े में उतरकर बौद्धिक दाँव-पेंच से अपनी गुत्थियाँ सुलझाना। स्पष्ट है कि ऐसे विचार-प्रधान नाटक केवल

शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रहते हैं। उनका तर्क इतना गंभीर, इतना ऊँचा उठा हुआ होता है कि साधारण जनता के मानसिक स्तर को वे आन्दोलित ही नहीं कर सकते।

एक बात और है जिससे दोनों की शैली एक दूसरे से भिन्न हो जाती है। हम बता चुके हैं कि हमारे कथा-प्रधान नाटकों की वस्तु का संगठन किसी-न-किसी आध्यात्मिक लक्ष्य के अनुसार होता है। समस्या-प्रधान नाटकों की कथा-वस्तु का संगठन इस प्रकार का नहीं होता। उनके अनुसार पहले सत्य की खोज होती है और तब उसी के आधार पर वस्तु और पात्रों का निर्माण होता है। कहने का तात्पर्य यह कि आधुनिक नाटक जीवन की प्रत्येक समस्या के सत्य की खोज करते हैं—ऐसे सत्य की खोज करते हैं जिसे मानव-बुद्धि स्वीकार करती है। उनमें न तो वस्तु की प्रधानता है, न पात्रों का महत्त्व और न किसी परंपरागत आदर्श का समर्थन। बौद्धिक सत्य की खोज और उसका प्रचार ही उनका चरम लक्ष्य है।

जीवन के गंभीरतम् प्रश्नों पर तर्क-बुद्धि से विचार करनेवाले नाटकों की कला का क्या रूप होगा?—यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। कला तर्क-विरोधनी होती है। जीवन के सत्य में नहीं, जीवन के सौंदर्य में कला का निवास रहता है। इसीलिए समस्या-प्रधान नाटकों के विरोधियों का प्रायः यह आक्षेप रहा है कि वे कला-हीन होते हैं। उनमें विचार, तर्क और विवाद, को इतना महत्त्व दिया जाता है कि 'वस्तु औषधालय बन जाती है, पात्र निष्प्राण हो जाते हैं, रंगमंच विधान-भवन बन जाता है और कला निष्प्रभ हो जाती है।' वस्तुतः इन आक्षेपों में अधिकांश सत्यता है। समस्या-प्रधान नाटकों के रंग-मंच साधारण होते हैं। उनकी आवश्यकताएँ कम होती हैं। एक ही दो दृश्यों से उनका काम निकल जाता है और उनके प्रदर्शन में समय भी कम लगता है। उनमें संवाद पर ही अधिक बल दिया जाता है और उसी को कार्य की प्रगति का आधार माना जाता है। उनकी

संवाद-कला अत्यन्त कोमल, सरल तथा स्वाभाविक होती है। उसमें न तो कवित्व रहता है, न भाषण का उद्घोष रहता है, न कल्पना की उड़ान रहती है और न भाषा की काट-छाँट। उनके संवाद जीवन के इतने समीप होते हैं कि उनमें विशेष प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्या-प्रधान नाटकों का प्रदर्शन अत्यन्त सरल और स्वाभाविक होता है।

हिन्दी-नाटककारों पर बुद्धिवादी नाटककारों की विचार-धारा का भी प्रभाव पड़ा है। बुद्धिवादी नाटककार उन सत्यों पर एकाग्र होकर विचार करते हैं जिनके द्वारा जीवन के विविध तत्त्वों की व्यवस्था संभव हुई है। इससे स्पष्ट है कि उनके नाटकों का मूलाधार है, मानव आत्मा। आत्म-जगत् की परिधि में ही उनकी कला अपने उत्कर्ष पर पहुँचती है। उन्हें मनुष्य के बाह्य-जगत् से कोई संबंध नहीं रहता। मनुष्य के आत्म-जगत् के द्वन्द्वपूर्ण उत्कर्ष की कहानी कहना ही उन्हें प्रिय होता है। ऐसी कहानियों में उनके दृष्टिकोण 'वैयक्तिक, व्यंगात्मक, तथा स्वयंवादी' होते हैं। समाज तथा परिवार से सम्बन्धित नाटकीय कहानियों में उनका व्यंग कटुता की सीमा तक पार कर जाता है। उनके व्यंग का लक्ष्य होता है—मनुष्य का आत्म-जगत्। वे विशेषतः उन आदर्शों तथा उन व्यवस्थाओं से सम्बन्धित आचार-विचार को अपने व्यंग का आधार बनाते हैं जिसे मनुष्य ने अपने दैनिक जीवन-यापन के लिए बहुत दिनों से बना रखा है। इस प्रकार जिन आदर्शों को मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा में 'ध्रुवतारा' मानकर चलता है उनकी निस्सारता तथा उनकी निरर्थकता प्रदर्शित करना ही उनका मुख्य ध्येय होता है। उनका विश्वास है कि मनुष्य अपने जीवन के संचालनार्थ जिन आदर्शों की रचना करता है वे ही उसे धोखा देते हैं। वे कोरे आदर्श होते हैं। वे कार्य में परिणत तो होते नहीं, पर मनुष्य सदैव उन्हीं की दुहाई दिया करता है जिसका फल होता है—कपट, पाखंड। इसलिए ऐसे मिथ्या आदर्श मानवता के लिए कलंक हैं, भार-रूप हैं।

बुद्धिवादी नाटकों में नाटककारों का वैयक्तिक दृष्टिकोण होता है। आत्म-सिद्धि के लिए वे इसी प्रकार का दृष्टिकोण उपयुक्त समझते हैं। सामूहिक व्यवस्था में उनकी आस्था नहीं होती। उनके विचार से संगठित बहुमत सत्यता और स्वतंत्रता का घोर शत्रु होता है। व्यक्ति के सुधार से परिवार, समाज, राष्ट्र—सबका सुधार हो सकता है। जब ईंटें ही कमजोर हैं तब उनसे बना हुआ भवन टिकाऊ कैसे हो सकता है? उचित ही है, पर व्यक्ति का सुधार हो कैसे? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है कि मनुष्य जब अपनी इच्छा-शक्ति के माध्यम-द्वारा सत्य और स्वतंत्र रूप में अपनी आत्माभिव्यंजना करता है तब उसकी उन्नति होती है। उसकी उन्नति से परिवार, समाज, राष्ट्र—सभी पनपते, फूलते-फलते और विकसित होते हैं। जो व्यक्ति पग-पग पर जीवन में समझौता करते चलते हैं, उन्हें आत्म-सिद्धि प्राप्त नहीं होती। आत्म-सिद्धि का मूलमंत्र है त्याग। मनुष्य के त्याग से ही परिवार, समाज और राष्ट्र को बल मिलता है। जो मनुष्य अपने लिए जीता है उसका जीना वास्तव में जीना नहीं है। जीना उसी का सफल है जो दूसरों के लिए जीता है। यही आत्म-शक्ति है, यही उसका आत्म-विस्तार है, यही उसकी आत्म-सिद्धि है। इस प्रकार जबतक परार्थ-जीवन और वैयक्तिक जीवन का समन्वय नहीं होता तबतक आत्मोन्नति नहीं होती। संक्षेप में यही है इब्सेन का बुद्धिवाद।

इब्सेन के इसी बुद्धिवाद ने आधुनिक यथार्थवाद को जन्म दिया है जिसका प्रमुख उद्देश्य है—दैनिक जीवन का प्रदर्शन और सामयिक समस्याओं का परिशीलन। इस उद्देश्य ने नाटक के विषय-क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत कर दिया है। पंडित-मूर्ख, पुण्यात्मा-पापी, पूँजीपति-श्रमजीवी, अमीर-गरीब, शोषक-शोषित, स्वस्थ-रोगी, ऊँच-नीच—सब नाटकों के पात्र बन गये हैं और बनते जा रहे हैं। इन पात्रों के अनुकूल ही नाटक के विषय खोजे जाते हैं। आधुनिक जीवन की कोई-न-कोई समस्या—पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक,

नैतिक—नाटकीय रूप में हमारे सामने आती है और हमें उस पर विचार करने तथा उसका उचित हल खोजने के लिए बाध्य करती है। हिन्दी-नाटककारों में पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र ही इस दिशा में अग्रगण्य हैं। हिन्दी के यह 'इब्सेन' हैं। उन्होंने 'इब्सेन' की कला को अपनाकर, उसे पचाकर अपने देश, समाज और परिवार के अनुकूल बनाया है। उनकी देखा-देखी हिन्दी के अन्य नाटककार भी इब्सेन और शा की शैली अपना रहे हैं।

प्राचीन और आधुनिक नाटक

अब हम प्राचीन और आधुनिक नाटकों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। हम बता चुके हैं कि प्राचीन नाटक आदर्शवादी थे। उन नाटकों में नायक धर्म और नीति का प्रतिनिधि होता था। वह धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशान्त और धीरललित चार प्रकार का होता था। इन चारों का पराभव समाज को किसी प्रकार स्वीकार नहीं था। इनकी विजय से धर्म और नीति की विजय और इनकी पराजय से धर्म और नीति की पराजय समझी जाती थी। धर्म और नीति की पराजय का अर्थ था—समाज में अधर्म और अनाचार का प्रचार। ऐसी दशा में हमारे प्राचीन आचार्यों ने सदैव आदर्शवाद का ही सहारा लिया। उनकी रचना स्वाभाविक होती है अथवा नहीं, यथार्थ परिस्थितियों का अनुगमन करती है अथवा नहीं—इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। उनका एक मात्र उद्देश्य था—अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपनी विचार-परंपरा के अनुकूल अपने आदर्श की स्थापना। इसीलिए उन्होंने कभी दुखान्त रचना नहीं की। उनकी सभी प्रकार की रचनाओं का अंत लोकरंजन में होता था। संस्कृत की यह नाट्य-परंपरा कालान्तर में लुप्त हो गयी और उसके स्थान पर पाश्चात्य साहित्य की नाट्य-परंपरा ने अपना स्थान बना लिया। हमारे नाटककार आदर्शवादी से यथार्थवादी हो गये। आदर्शवाद के नाम पर यथार्थ और स्वाभाविकता की हत्या करना उन्हें स्वीकार नहीं हुआ।

उन्होंने अपनी रचनाओं में जीवन की स्वाभाविकता पर ही अधिक बल दिया और 'रस' की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक संघर्ष का ही चित्रण किया। फलतः संस्कृत-नाटकों में जो दृश्य वर्जित थे, मानव-कल्याण के लिए जो घातक और विपाक्त समझे जाते थे उनका भारतीय रंगमंच से प्रदर्शन होने लगा और मृत्यु तथा पराभव के दृश्य दिखाये जाने लगे। इस प्रकार आधुनिक नाटक प्राचीन नाटकों से सर्वथा भिन्न हो गये। आज हिन्दी-साहित्य में जो नाटक लिखे जा रहे हैं उनमें जीवन का स्वाभाविक रूप अधिक सफलतापूर्वक चित्रित हुआ है। संक्षेप में दोनों प्रकार के नाटकों में निम्नलिखित अन्तर है :—

(१) कथानक की दृष्टि से प्राचीन नाटक आदर्शवादी होते थे। उनमें आदर्श-विशेष की प्रतिष्ठा के लिए यथार्थ के साथ-साथ कल्पना का पुट अधिक रहता था। इसलिए वे अस्वाभाविक-से लगते थे। आधुनिक नाटक यथार्थवादी दृष्टिकोण से लिखे जा रहे हैं। उनमें जीवन की स्वाभाविकता और यथार्थता के साथ-साथ पात्र-संघर्ष तथा अंतर्द्वन्द्व का बाहुल्य है और जीवन की प्रमुख सामाजिक समस्याएँ रंगमंच पर आकर अपना हल खोजने लगी हैं। इस प्रकार कल्पना और भावुकतामय आदर्श के लिए आधुनिक रंगमंच पर अब कोई स्थान नहीं है। आधुनिक नाटककार ऐतिहासिक तथा पौराणिक गाथाओं के क्षेत्र से निकलकर वास्तविक जीवन के क्षेत्र में आ गये हैं और उनमें पारस्परिक द्वेष की अपेक्षा सामाजिक संस्थाओं के प्रति विद्रोह का अधिक चित्रण हो रहा है। इस प्रकार प्राचीन नाटकों के कथानकों की अपेक्षा आधुनिक नाटकों के क ानक वास्तविक जीवन के अधिक निकट और स्वाभाविक हैं।

(२) वस्तु की अवस्थाओं की दृष्टि से प्राचीन नाटकों में संघर्ष केवल मध्य तक ही रहता था। इसके पश्चात् नायक की विजय का उपक्रम आरम्भ हो जाता था। इस प्रकार उनमें 'चरम सीमा' के लिए कोई स्थान नहीं था। आधुनिक नाटकों में संघर्ष अन्त तक रहता है और वह अपनी

'चरम सीमा' पर पहुँचकर शान्त होता है। इस प्रकार प्राचीन नाटकों का अन्त जहाँ सदैव सुखान्त होता है वहाँ आधुनिक नाटकों का अन्त परिस्थितियों के अनुसार कभी सुखान्त, कभी दुखान्त और कभी प्रसादान्त होता है।

(३) पात्र की दृष्टि से प्राचीन नाटकों का क्षेत्र सीमित है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार उनका नायक धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशांत अथवा धीरोद्धत होता था। वह उच्च कुल का और विशिष्ट गुण-सम्पन्न होने के साथ-साथ किसी-न-किसी आदर्श की स्थापना करता था। आधुनिक नाटकों में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं है। नाटककार अपनी पात्र-योजना में स्वतन्त्र है। वह जीवन के किसी भी स्तर से, किसी भी क्षेत्र से अपने पात्र ले सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन नाटकों में जहाँ पात्र विशिष्ट गुणों के प्रतीक होते थे वहाँ आधुनिक नाटकों में जो पात्र जैसा है उसको उसी रूप में ग्रहण करके चित्रित किया जाता है। परिणामतः प्राचीन पात्रों की अपेक्षा आधुनिक पात्र अधिक मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक हैं।

(४) चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त अन्तर है। प्राचीन नाटकों में पात्रों का चरित्र-चित्रण एक आदर्श की पूर्ति के लिए किया जाता था। इसलिए उन्हें स्व-निर्मित मार्ग पर नहीं, अपितु नाटककार-द्वारा निर्मित मार्ग पर चलना पड़ता था और उन्हीं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना पड़ता था जो आदर्श विशेष की स्थापना में सहायक होते थे। इस प्रकार पात्र नाटककार के सर्वथा नियन्त्रण में रहते थे। आधुनिक नाटकों में पात्रों को अपना मार्ग निर्माण करने की पूरी स्वतंत्रता है। उन्हें किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं है। वे अपनी स्वाभाविक गति से आगे बढ़ते हैं और अपने भावों का स्पष्टीकरण करते चलते हैं। उनमें बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष अधिक है। इस प्रकार जहाँ प्राचीन नाटकों में चरित्र की अपेक्षा सत्य और न्याय-सिद्धान्तों को प्रधानता मिली है वहाँ आधुनिक नाटकों में चरित्र का

विश्लेषण ही प्रमुख है। उनमें सिद्धान्त-प्रतिपादन वहीं आता है जहाँ हमें उनकी आवश्यकता होती है, अन्यथा चरित्र-चित्रण में, सूर्योदय के साथ प्रकाश की भाँति, सिद्धान्त आप-से-आप निकल आता है।

(५) कथोपकथन की दृष्टि से प्राचीन और आधुनिक नाटकों में विशेष अन्तर नहीं है। प्राचीन नाटकों में स्वगत कथन का बाहुल्य रहता था। यह अस्वाभाविक-सा लगता था। आधुनिक नाटकों में अब इसका स्थान पात्र विशेष ने ले लिया है। इस परिवर्तन से उनमें स्वाभाविकता आ गयी है। इसके अतिरिक्त आधुनिक नाटकों में संगीत की अपेक्षा संवाद की उपयोगिता पर अधिक बल दिया जाता है। संगीत की आवश्यकता अब केवल वातावरण के निर्माण और संगीत-प्रेमी के चरित्र-चित्रण तक ही सीमित रह गयी है। इस प्रकार स्वगत कथन की भाँति संगीत भी आधुनिक नाटकों से निर्वासित-सा हो रहा है।

(६) अभिनय की दृष्टि से भी प्राचीन और आधुनिक नाटकों की रचना में अन्तर आ गया है। प्राचीन नाटकों में सूत्रधार आदि द्वारा नाटक की जो भूमिका बाँधी जाती थी वह आधुनिक नाटकों में लुप्त हो गयी है। आधुनिक नाटकों में आकाश-भाषित आदि की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार पहले की अपेक्षा आधुनिक नाटकों में स्वाभाविकता अधिक आ गयी है।

(७) प्राचीन नाटकों की रचना में मृत्यु आत्मघात, रक्तपात आदि दुखद घटनाओं का समावेश नहीं किया जाता था। उस समय के आचार्यों का यह मत था कि रंगमंच से किसी ऐसी दुखद घटना का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए जो जीवन की शृंखला को छिन्न-भिन्न कर दे और उसमें आशा और आनन्द का संचार करने के स्थान पर निराशा, और दुःख की सृष्टि करने में सहायक हो; परन्तु आधुनिक आचार्यों का यह मत नहीं है। उनका कहना है कि रंगमंच से, जीवन जैसा है वैसा ही, चित्रित होना चाहिए। फलतः आधुनिक रंगमंच से ऐसी सब प्रकार की दुखद घटनाएँ दिखायी जा रही हैं। उनके लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

(८) प्राचीन नाटकों का लक्ष्य था—रस का परिपाक। इसलिए उनमें आदि से अन्त तक रस की प्रधानता रहती थी और उसके परिपाक के लिए उन सभी साधनों से सहायता ली जाती थी जो शास्त्रीय दृष्टि से अपेक्षित थे। पर आधुनिक नाटकों का यह लक्ष्य नहीं है। उनमें रस का स्थान उद्देश्य ने ले लिया है। इस प्रकार जहाँ प्राचीन नाटकों में रस का स्थान प्रमुख होता था वहाँ आधुनिक नाटकों में उसका स्थान गौण हो गया है और वह केवल उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होता है।

(९) रंगमंच की व्यवस्था की दृष्टि से प्राचीन नाटक संकेतात्मक होते थे। उस समय के नाटककार वैज्ञानिक साधनों के अभाव में बहुत-सी बातों के लिए केवल संकेत से काम लेते थे। ऐसी दशा में रंगमंच की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती थी और दर्शकों पर मनोवांछित प्रभाव नहीं पड़ता था। आधुनिक नाटककारों ने जीवन की वास्तविकता के चित्रण के साथ-ही-साथ रंगमंच की कला में भी विकास किया है। आधुनिक रंगमंच प्राचीन रंगमंच की अपेक्षा अधिक कलात्मक और वैज्ञानिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक नाटक जीवन की स्वाभाविकता और यथार्थता के अधिक निकट आ पहुँचे हैं। साथ ही यथार्थवाद की प्रतिक्रिया भी चल रही है। क्षणिक समस्याओं को छोड़कर मानव जाति की चिरन्तन और मौलिक समस्याओं की ओर भी कलाकारों का ध्यान आकृष्ट हो रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि नये-नये विषय हमारे नाटककारों के सामने आते जा रहे हैं और उन्हीं की अभिव्यक्ति में वे नये-नये साधनों द्वारा अपनी नाट्य-कला का विकास कर रहे हैं। इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हमारे प्राचीन नाटक हमारे सुख और वैभव-काल के सूचक हैं। इसके विरुद्ध हमारे आधुनिक नाटकों का जन्म जीवन की उन परिस्थितियों में हुआ है जो संघर्षमय हैं, और जिनमें अशान्ति और कोलाहल, दौड़-धूप और प्रतिहिंसा की प्रवृत्ति है। ऐसी दशा में हम अपने प्राचीन मार्ग से कितनी दूर हट आये हैं—यह भली भाँति देखा जा सकता है।

नाटक में स्वगत-कथन का प्रयोग

हम अभी बता चुके हैं कि नाटक मे स्वगत-कथन का प्रयोग अत्यन्त अस्वाभाविक होता है। हमें यह परंपरा संस्कृत-नाटकों से मिली है। पाश्चात्य नाटकों में भी हमें इस परंपरा का पालन मिलता है। शेक्सपियर के नाटकों मे इसका प्रयोग हुआ है। नाटकों मे इसे क्यों स्थान दिया गया?—यह विचारणीय है। जीवन की बहुत-सी बातें हम गोपनीय रखना चाहते हैं। उनका प्रकाशन हम अपने कल्याण और उद्देश्य में बाधक समझते हैं। इसलिए जीवन के दैनिक व्यापारों में हम उन्हें छिपाये रहते हैं। यदि जीवन की किसी परिस्थिति मे उनका छिपाना हमारे लिए असंभव हो जाता है तो हम उनका प्रकाशन अपने विश्वसनीय मित्र-द्वारा ही करते हैं। नाटक हमारी जीवन-परिस्थितियों का साहित्यिक प्रतिनिधि है। इसलिए उसमें स्वगत-कथन को भी स्थान दिया गया है। इसके द्वारा पात्र अपने गोपनीय विचारों और भावों का उद्घाटन नाटकीय कथा-सूत्र के निर्वाह के लिए करता है। पर जीवन का यह सत्य, जीवन की यह स्वाभाविकता कलात्मक प्रदर्शन मे असत्य और अस्वाभाविक-सी दीख पड़ती है।

नाटकों मे स्वगत-कथन की दो शैलियाँ मिलती हैं। इसकी एक शैली तो उस अवस्था मे मिलती है जब पात्र अकेला रहता है। उस समय वह रंगमंच पर अपने-आप बातें करता हुआ दिखायी पड़ता है और वह भी थोड़ी देर तक नहीं, कभी-कभी इतनी देर तक कि दर्शकों का जी ऊब जाता है और सारा वातावरण अस्वाभाविक जान पड़ता है। स्वगत कथन की दूसरी शैली उस समय मिलती है जब दो व्यक्तियों मे बातें होती हैं और उनमें से एक, दूसरी ओर मुँह फेरकर, इस प्रकार अपनी गोपनीय बात कहता है कि उसे दर्शक तो सुनते हैं, पर उन्हीं के पास खड़ा हुआ उसका साथी उसे नहीं सुन पाता। यह आत्म-प्रवंचना और प्रदर्शन अस्वाभाविक नहीं तो और क्या है? ऐसी दशा मे फिर वही मूल प्रश्न हमारे सामने आता है और वह यह कि गोपनीय विचारों का

प्रकाशन रंगमंच से किस प्रकार किया जाय कि कथा-सूत्र के सफल निर्वाह में बाधा न पड़े और रंगमंच की स्वाभाविकता भी नष्ट न हो!

पाश्चात्य नाट्यकारों ने बड़े स्वाभाविक ढङ्ग से इस प्रश्न को सुलझाया है। इन्होंने एक ऐसे पात्र की कल्पना की है जो नायक अथवा नायिका का विश्वसनीय होता है और वही उनके गोपनीय विचारों को जानकर उनका प्रकाशन करता है। इस युक्ति से पात्रों के कथोपकथन में स्वाभाविकता बनी रहती है और कथा-निर्वाह में भी कोई बाधा नहीं पड़ती। भारतेन्दु और प्रसाद-काल के नाटकों में स्वगत-कथन की भरमार है, पर अब जो नाटक लिखे जा रहे हैं उनमें इसका उपयोग नहीं के बराबर है।

नाटक में रङ्ग-संकेतों का महत्व

नाटक-रचना के सम्बन्ध में एक अभाव का उल्लेख करके हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। हमने यह देखा है कि हमारे अधिकांश नाटक अभिनेय नहीं हैं और यदि वे हैं भी तो रङ्गमंच पर खरे नहीं उतरते। इसका प्रमुख कारण उनमें रङ्ग-संकेतों का अभाव है। रङ्ग-संकेतों के न होने से रङ्गमंच पर नाटक की आत्मा का प्रकाशन नहीं हो पाता। कहा जा सकता है कि संस्कृत-नाटकों में रङ्ग-संकेत कहाँ थे? ऐसा प्रश्न वही कर सकते हैं जिन्होंने संस्कृत-नाटकों की आत्मा में प्रवेश नहीं किया है। संस्कृत-नाटकों में रङ्ग-संकेत अवश्य नहीं हैं, पर संस्कृत का नाट्य-शास्त्र इतना समृद्ध है कि उसमें प्रत्येक नाटक और उस नाटक के प्रत्येक पात्र और उसके अनुकूल रंगमंच के लिए पर्याप्त मात्रा में रङ्ग-संकेत मिलते हैं। यही कारण है कि यदि हम आज भी उन नाटकों को खेलना चाहें तो हमें उनके अनुकूल रङ्गमंच निर्माण के लिए दूसरे का मुँह ताकने कि आवश्यकता नहीं होगी, पर हिंदी-नाटक आधुनिक होते हुए भी अपने अनुकूल रङ्गमंच-निर्माण में हमारी सहायता नहीं कर सकते। हिन्दी का अपना कोई नाट्य-शास्त्र नहीं है, उसका अपना कोई सिद्धान्त नहीं है। नाटक-रचना में हम कथाएँ अपनी रखते हैं, पर उसके वस्तु-विधान, चरित्र-चित्रण तथा अन्य बातों के

के लिए हम पाश्चात्य कलाकारों की कृतियों के पन्ने उलटते-पलटते हैं। हमारी स्वतंत्र परम्परा के लिए यह मनोवृत्ति बाधक है। इसे दूर करने और अपने सांस्कृतिक वातावरण के अनुकूल नाट्य-कला का विकास करने के लिए नाटकों में रङ्ग-संकेतों का देना परम आवश्यक है। नाटककार अपने नाटक के अभिनय के लिए किस प्रकार का रङ्गमंच चाहता है, अपने पात्रों को दर्शकों के सामने किस रूप में, किस वेश-भूषा में और किस वातावरण में उपस्थित करना चाहता है, विशेष परिस्थिति में उनकी मुद्रा कैसी होनी चाहिए, देश-काल और समाज के अनुसार उन्हें कैसा आचरण करना चाहिए, आदि-आदि बातों के लिए जब नाटक में पर्याप्त संकेत रहते हैं तब न तो मंच-संचालक को कठिनाई होती है और न दर्शकों के सामने नाटक की आत्मा का हनन। हिन्दी के लोक-प्रिय एकांकीकार डा० रामकुमार वर्मा ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया है। यदि हमारे अन्य नाटककार भी उनके मार्ग का अवलंबन करें तो रङ्ग-मंच-निर्माण की एक बाधा आसानी से हल हो सकती है और नाटककार को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता मिल सकती है।

: ६ :

एकांकी की उत्पत्ति और विकास

संस्कृत-एकांकी का जन्म

नाट्य-साहित्य में एकांकी का जन्म कब और किस प्रकार हुआ?— यह बताना अत्यन्त कठिन है। संस्कृत-साहित्यकार धार्मिक कृत्यों से एकांकी की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। प्रसादजी का कहना है कि वैदिक काल में यज्ञ के अवसरों पर संवाद-रूप में छोटे-बड़े अभिनय हुआ करते थे। इसी प्रकार के एक छोटे अभिनय का प्रसंग सोमयाग के अवसर पर मिलता है। इसमें केवल तीन पात्र हैं—(१) यजमान, (२) सोम-विक्रेता और (३) अध्वर्यु। संभव है, ऐसे ही छोटे अभिनयात्मक संवादों के आधार पर नाटकों के साथ-साथ एकांकी की रचना आरंभ हो गयी हो और कालान्तर में उसका विकास हुआ हो। जो भी हो, यह निर्विवाद है कि एकांकी की उत्पत्ति धार्मिक कृत्यों से ही हुई है और हम उसका प्रथम दर्शन वैदिक संवादों में पाते हैं।

ऐतिहासिक रूप में यदि हम एकांकी की उत्पत्ति जानना चाहें तो हमें भरत मुनि के नाट्य-शास्त्र पर विचार करना होगा। भरत मुनि ने रूपक और उप-रूपक के जो २८ भेद किये हैं उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिनकी गणना एकांकी के अन्तर्गत की जा सकती है। भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, प्रहसन, गोष्ठी, नाट्यरासक, उल्लाप, काव्य, प्रेंखण, रासक, श्रीगदित तथा विलासिका—सभी एकांकी नाटक हैं। इनके अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि भरत मुनि के समय से संस्कृत-नाटककारों ने अपनी बात को कई अंकों में न कहकर अवसर और आवश्यकता के अनुकूल केवल एक अंक में ही कहने का नवीन प्रयोग किया होगा और इस प्रयोग में सफलता मिलने पर उनके द्वारा

एकांकी लिखने की प्रथा चल पड़ी होगी। यही कारण है कि हम संस्कृत के छोटे-बड़े विविध नाटकों में केवल शैली-भेद पाते हैं। उनमें 'टेक-नीक' का अन्तर तो है, पर सिद्धान्त का अन्तर नहीं है और इसीलिए संस्कृत-नाट्य-साहित्य में एकांकी का मूल्यांकन नाटक के ही अन्तर्गत होता है। एकांकी का नाटकों से पृथक् मूल्यांकन पाश्चात्य साहित्यकारों ने किया है। उनके एकांकी-रचना के सिद्धान्त नाटकों के सिद्धान्तों से सर्वथा भिन्न हैं।

संस्कृत-नाट्य-साहित्य में एकांकी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक तीसरा मत भी है और वह है सामाजिक। इस मत के अनुसार दो समस्याएँ स्पष्ट रूप से सामने आती हैं—एक तो है समयाभाव की समस्या और दूसरी है इसी से संबद्ध मनोरंजन की समस्या। इसमें संदेह नहीं कि हमारे जीवन में मनोरंजन का भी स्थान है, पर कला और साहित्य के विकास में हमें सर्वप्रथम प्रेरणा मिली है लोक-कल्याण की भावना से। मनोरंजन का—उस प्रकार के मनोरंजन का जो पाश्चात्य जीवन और साहित्य का मुख्य लक्ष्य है—हमारे जीवन और साहित्य में गौण स्थान है। संक्षेप में, लोक-कल्याण-जन्य मनोरंजन ही हमारे जीवन और साहित्य का लक्ष्य रहा है। ऐसी दशा में हमने मनोरंजन की लालसा से प्रेरित होकर एकांकी को जन्म दिया हो—यह सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। अब रही समयाभाव की बात। शास्त्रीय ग्रंथों तथा प्राप्त प्राचीन एकांकियों के अध्ययन से यह कहीं भी स्पष्ट नहीं होता कि संस्कृत-काल में उनकी क्यों आवश्यकता हुई? नाटकों के खेले जाने के जिन अवसरों का उनसे पता चलता है, वे या तो किसी धार्मिक उत्सव—देव-पूजा, यज्ञ आदि—से सम्बन्ध रखते हैं या किसी राजकीय उत्सव—राज्याभिषेक, विवाह, विजय, वन-विहार, सन्तानोत्पत्ति, आखेट आदि—से। ऐसे आनन्द और उल्लास के अवसरों पर समयाभाव के कारण नाटक के स्थान पर एकांकी खेले जाने की आवश्यकता पड़ती रही हो—यह समझ में नहीं आता। प्राचीन भार-

तीय जीवन के अंतरंग का चित्र हमें जिन ग्रंथों से मिलता है उनके अध्ययन से हमें कहीं भी अत्यधिक व्यस्तता का पता नहीं चलता। संभव है, गुप्त-काल में अथवा उसके आस-पास नाटकों का प्रचार बढ़ने और रंगशाला-सम्बन्धी कठिनाइयों के सामने आने पर, अवसर विशेष के अनुकूल, एकांकी की रचना हुई हो, पर उनका न तो नाट्य-साहित्य में विशिष्ट स्थान है और न नाट्य-कला के विकास में कोई सराहनीय सहयोग। ऐसी दशा में यह मानना कि संस्कृत-एकांकियों का जन्म सामाजिक आवश्यकता के कारण हुआ है, हमारे मत से उचित नहीं जान पड़ता।

अँगरेजी-एकांकी का जन्म

अँगरेजी-नाट्य-साहित्य में एकांकी के उदय का एक रोचक इतिहास है। अँगरेजी नाटककारों का कहना है कि दसवीं शताब्दी के आस-पास एकांकी का जन्म हुआ है। उनके मत के अनुसार उस समय के ईसाई भिक्षु और पादरी सर्वसाधारण में अपनी धार्मिक शिक्षाओं का प्रचार करने के लिए सन्तों और धार्मिक महापुरुषों की जीवनी से ऐसे रोचक एवं आश्चर्यजनक घटनाओं का चयन करके उनका नाटकीय ढंग से प्रदर्शन करते थे जो थोड़ी देर तक दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करने के साथ-साथ धार्मिक चेतना से उन्हें परिपूर्ण और उनके हृदय में धार्मिक शिक्षाओं के लिए उचित पृष्ठभूमि तैयार कर देते थे। ऐसे कथानकों में कहीं प्रेम की पराकाष्ठा रहती थी, कहीं दया और करुणा की विजय का उल्लास रहता था, कहीं सहानुभूति की अविरल वर्षा होती थी और कहीं उदारता एवं त्याग की झाँकियाँ मिलती थीं। इस प्रकार धार्मिक शिक्षाओं के साथ-साथ जनता में धैर्य, प्रेम, क्षमा, सहानुभूति, उदारता, त्याग, श्रद्धा, भक्ति, सेवा और दान आदि संबंधी उच्च कोटि की नैतिक भावनाओं का भी प्रचार हो जाता था। पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में ऐसी ही नैतिक तथा धार्मिक भावनाओं की पृष्ठभूमि और उनके उद्देश्य में हमें एकांकी का प्रथम दर्शन मिलता है। इसके

स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा सबसे पहले इटली में 'कमेडिया-डेल-आर्टी' में दिखायी देती है। मिस्ट्री (रहस्यात्मक), मिरेकिल (अलौकिक) तथा मोरेलटी (नैतिक) प्ले ज़ (अभिनय) भी अधिकांश एकांकी होते थे। पन्द्रह वीं तथा सोलहवीं शताब्दी के इन एकांकी नाटकों में कथानक की संक्षिप्तता के साथ-साथ विषय का एकाकीपन भी रहता था। एलिज़बेथ के युग में बड़े-बड़े नाटकों के बीच में गर्भांक (इंटरल्यूड) जोड़ दिये जाते थे जिनका मुख्य उद्देश्य मूल नाटकों की गति में थोड़े काल के लिए विश्राम उपस्थित करना तथा दर्शकों का मनोरंजन-मात्र होता था। इसी प्रकार दुखान्त नाटकों का प्रभाव हलका करने के लिए नाटक के अन्त में 'आफ्टर पीसेज' का अभिनय होता था। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी तक एकांकी नाटक अपने इसी रूप में दर्शकों के सामने आते रहे। परन्तु आज जिस रूप में हम अँगरेजी-एकांकी पाते हैं उस रूप में उनका जन्म बीसवीं शताब्दी की बात है।

कहा जाता है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में नाटकों का प्रचार बढ़ने पर जब रंगशालाओं की ओर दर्शकों का ध्यान आकृष्ट हुआ तब दर्शकों की उपस्थिति-सम्बन्धी कठिनाई सामने आयी। बात यह थी कि नाटक आरम्भ होने के समय तक सभी दर्शक एकत्र नहीं हो पाते थे। रात्रि में देर से—लगभग नौ बजे तक—भोजन करने के कारण दर्शक प्रायः अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार रंगशालाओं में आ पाते थे और खेल उस समय आरम्भ हो पाता था जब प्रायः सभी दर्शक आ जाते थे। ठीक यही कठिनाई प्रीतिभोजों के अवसर पर लोगों को झेलनी पड़ती थी। जबतक सभी आमंत्रित सज्जन एकत्र नहीं हो जाते थे तबतक कोई भोजन नहीं कर पाता था। ऐसी दशा में जो दर्शक अथवा अतिथि निश्चित समय से पूर्व आ जाते थे उनके मनोरंजन के लिए एक उपयुक्त साधन की आवश्यकता हुई। इसी साधन की खोज में एकांकी का निर्माण हुआ। इसका प्रथम उद्देश्य था— थोड़े समय में उपस्थित दर्शकों के लिए मनोरंजन प्रस्तुत करना। फलतः

उस समय जो एकांकी लिखे गये वे पट-उन्नायक अथवा 'कर्टेन रेजर' के रूप में अबतक मिलते हैं और वही आधुनिक एकांकी के जनक हैं। विक्टोरियन-युग में ऐसे ही एकांकियों का विशेष प्रचार हुआ है। ऐसे छोटे एकांकी नाटक का पर्दा उठने के पूर्व खेले जाते थे। सन् १९०२ में एक विशेष घटना हुई और उस घटना ने पट-उन्नायकों की रचना में विशेष परिवर्तन कर दिया। उस वर्ष जैकब की एक कहानी 'बन्दर का नाच' एकांकी के रूप में, नाटक के पूर्व, प्रस्तुत की गयी। यह इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि दर्शकों ने नाटक देखने की आवश्यकता ही नहीं समझी। इसी साधारण घटना ने अँगरेजी नाट्य-साहित्य में आधुनिक एकांकी को जन्म दिया और फिर कई एकांकी लिखे गये।

विक्टोरियन युग की समाप्ति के पश्चात् ही अँगरेजी-नाट्य-साहित्य में एक महान् प्रतिक्रिया हुई। इस प्रतिक्रिया के प्रेरक थे—इब्सेन और पिनेरो। इन नाटककारों ने शेक्सपियर की भावुकता के स्थान पर बुद्धिवाद को प्रश्रय दिया और अपने कथानकों की सामग्री यथार्थ जीवन से एकत्र की। इससे नाटकीय कला में विशेष परिवर्तन हो गया। सस्ते भावुकतापूर्ण नाटकीय प्रदर्शन-द्वारा धन कमाने की अपेक्षा नाट्य-साहित्य में यथार्थ जीवन की अभिव्यंजना अधिक उपयुक्त एवं उचित समझी जाने लगी। नाटकों के आकार छोटे हो गये और वे एकांकी के रूप में सभ्य नागरिकों के लिए लिखे जाने लगे। पाश्चात्य एकांकी नाटकों के वर्तमान रूप का सूत्रपात इसी समय से होता है।

हिन्दी-एकांकी का जन्म

हिन्दी में एकांकी की उत्पत्ति अभी हाल की बात है। इस संबंध में साहित्यकारों के दो मत हैं। एक के अनुसार हिन्दी-एकांकी संस्कृत-एकांकी की देन है, पर यह सत्य नहीं है। वस्तुतः संस्कृत नाट्य-साहित्य में 'एकांकी' नाम का कोई रूपक अथवा उपरूपक-भेद है ही नहीं। यह तो अँगरेजी के 'वन एक्ट प्ले' का सीधा और सरल अनुवाद है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-एकांकी किसी भी बात में संस्कृत-एकांकियों से

नहीं मिलते। संस्कृत-एकांकियों की शैली, उनकी कला, उनकी पात्र-कल्पना, उनकी टेकनीक हिन्दी-एकांकियों से सर्वथा भिन्न है। उनका प्रणयन साधारण प्रवृत्ति के विपरीत हुआ है। वे उद्देश्यपूर्ण भी नहीं हैं। ऐसी दशा में यह मानना होगा कि हमारे हिन्दी के एकांकी संस्कृत की इस परंपरा से नहीं आये। आधुनिक हिन्दी-एकांकी में जिस कला का उद्घाटन हम पाते हैं, उसमें पाश्चात्य एकांकियों का ही बहुत बड़ा हाथ है—वही कला, वही टेकनीक, वही शैली, वही उद्देश्य और वही पात्र-कल्पना। अँगरेजी-एकांकियों की यह परंपरा बँगला से होती हुई हमारे साहित्य में आयी और भारतेन्दु-युग में अंकुरित होकर प्रसाद-युग में हिन्दी नाट्य-साहित्य का एक पृथक् अंग बन गयी। भारतेन्दु-युग के पूर्व हिन्दी में जो एकांकी लिखे गये, उनमें हम हिन्दी-एकांकी-कला का प्रथम दर्शन पाते हैं।

एकांकी का महत्त्व

अब प्रश्न यह है कि आज के जीवन में एकांकी का क्या महत्त्व है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें आधुनिक जीवन की विषम और संघर्षमय परिस्थियों पर विचार करना होगा और साथ ही यह देखना होगा कि एकांकी की उत्पत्ति के पश्चात् उसके विकास एवं लोक-प्रिय होने में कौन-कौन सी प्रेरणाएँ सहायक हुई हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर हमें जो बात अधिक महत्त्वपूर्ण ज्ञात होती है वह है—एकांकी की रोचकता। एकांकी इतने रोचक और प्रभावशाली होते हैं कि उन्हें देखकर दर्शकों की आत्मा तृप्त हो जाती है। अँगरेजी नाट्य-साहित्य में उनकी उत्पत्ति पर विचार करते हुए हम यह बता चुके हैं कि आरंभ में पट-उन्नायक अथवा प्रवेशिका (कर्टेन रेज़र) का उद्देश्य रंग-शालाओं के प्रबन्धकों की कठिनाइयों को दूर करना था। इसलिए आरम्भ में नाटकों को उनसे विशेष क्षति नहीं पहुँची, पर धीरे-धीरे जब अपनी रोचकता के कारण वे लोक-प्रिय होने लगे तब मूल नाटकों का प्रभाव घटने लगा। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि दर्शकगण एकांकी देखने

के पश्चात् मूल नाटक की शिथिलता से ऊबकर रंगशाला से बाहर निकल जाते थे। ऐसी दशा में प्रबन्धकों ने अपनी सुविधा के लिए जो योजना बनायी थी वह असुविधाजनक सिद्ध हो गयी। आगे चलकर कर्टेनरेजर तो बन्द हो गये, पर उनके स्थान पर एकांकियों को प्रोत्साहन मिला।

एकांकियों का महत्त्व एक दूसरी बात से भी आँका जा सकता है। हमारा आज का जीवन इतना संघर्षमय, इतना जटिल और इतना व्यस्त है कि समय उसके कार्य-कलापों का प्रधान एवं निर्णायक अंग बन गया है। हम कार्यारंभ से पहले ही यह सोचने लगते हैं कि उसमें कितना समय लगेगा। प्राचीन काल में यह बात नहीं थी। उस समय हमारे पास पर्याप्त समय था और हम अपने साहित्य में सम्पूर्ण जीवन को देखने की चेष्टा करते थे। समय की वेदी पर हम उपयोगिता का बलिदान नहीं करते थे। पर आज इस वैज्ञानिक युग में हमारी वह भावना बदल गयी है, हमारा वह विचार बदल गया है, साहित्य के प्रति हमारा वह दृष्टिकोण बदल गया है। हम प्रत्येक बात को संक्षेप में ही सोचना और जानना चाहते हैं। हमारे पास समय नहीं है। महाकाव्य, उपन्यास, नाटक—इन मोटे-मोटे ग्रन्थों को पढ़ना अपना समय नष्ट करना है। संक्षेप में, आज हम अपने साहित्य से मनोरंजन की आशा करते हैं। यह मनोरंजन हमें जिस साहित्य से, जितने थोड़े समय और सस्ते दामों में, मिल जाय, उतना ही लोक-प्रिय हम उसे बना देते हैं। हिन्दी-नाट्य-साहित्य में एकांकी की लोक-प्रियता का यही रहस्य है।

एकांकी की परिभाषा

अबतक एकांकी की उत्पत्ति और उसके महत्त्व के संबंध में जो बातें बतायी गयी हैं उनसे उसकी परिभाषा का सामान्य परिचय मिल जाता है और हम कह सकते हैं कि अपने सरलतम रूप में एकांकी एक ऐसी साहित्यिक कृति है जिसमें एक ही अंक होता। पर हमें एकांकी की इस परिभाषा से बोध और सन्तोष नहीं होता है। वास्तव में एकांकी इतनी कलापूर्ण रचना है कि उसे परिभाषा की संकुचित सीमा के भीतर

व्यक्त ही नहीं किया जा सकता। कुछ लोगों का कहना है कि एकांकी, नाटक का संक्षिप्त रूप है। नाटक तो वह है ही अपने अभिनेय होने के कारण; पर नाटक की शास्त्र-द्वारा जो परिभाषा की जाती है उससे वह 'नाटक' छोटा नाटक नहीं जान पड़ता। छोटा नाटक कहने का तात्पर्य तो यह है कि उसमें नाटक के सभी तत्त्व मिलते हैं। एकांकी में नाटक के सभी तत्त्व नहीं मिलते। इसी प्रकार हम किसी बड़े नाटक के एक अंक को भी एकांकी नहीं कह सकते। एकांकी, नाटक से भिन्न, एक स्वतंत्र कलापूर्ण रचना है। उसके सिद्धान्त नाटक के सिद्धान्तों से भिन्न हैं, उसकी टेकनीक नाटक की टेकनीक से भिन्न है; उसकी सीमाएँ नाटक की सीमाओं से भिन्न हैं। उसका क्षेत्र इतना विस्तृत और विशाल है कि हम उसकी संतोषजनक परिभाषा बना ही नहीं सकते।

एकांकी की विशेषताएँ

अब एकांकी की विशेषताओं पर विचार कीजिए। हम पहले बता चुके हैं कि संस्कृत-नाट्यशास्त्र में एकांकी का पृथक् मूल्यांकन नहीं हुआ है। अतः हम संस्कृत एकांकियों की विशेषताओं के आधार पर हिन्दी-एकांकियों की विशेषताओं का स्पष्टीकरण नहीं कर सकते। अँगरेजी-एकांकियों की भाँति हिन्दी-एकांकियों की पृथक् सत्ता है; नाट्य-साहित्य में उनका पृथक् मूल्य है। हिन्दी-एकांकी अँगरेजी-एकांकी से अधिकांश प्रभावित भी हैं। इस दृष्टि से हिन्दी-एकांकी की निम्नलिखित विशेषताएँ हमारे सामने आती हैं:—

(१) एकांकी का कथानक अत्यन्त आकर्षक, संबद्ध, संयत, सुव्यवस्थित, सरल, वेगपूर्ण और अपने में संपूर्ण होता है। उसमें केवल एक घटना, एक विचार, एक परिस्थिति अथवा एक समस्या प्रबल होती है और उसका एक सुनिश्चित, सुकल्पित लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसमें एकता, एकाग्रता और आकस्मिकता का होना अनिवार्य है।

(२) एकांकी में कार्य-कारण की घटनावली अथवा कोई गौण

परिस्थिति अथवा समस्या के समावेश का उपक्रम नहीं होता और यदि कोई ऐसी सहायक घटना आ भी जाती है तो वह अपना अस्तित्व मुख्य घटना में लीन कर देती है। डा० वर्मा का कहना है कि 'उसमें विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भाँति खिलकर पुष्प की भाँति विकसित हो उठती है।'

(३) एकांकी का आरंभ किसी प्रकार की भूमिका से नहीं होता। उसका श्रीगणेश तुरंत होता है। यही एकांकी का सबसे बड़ा आकर्षण है।

(४) एकांकी की कथा विद्युत् गति से अग्रसर होती है और नाटकीय कौशल से कौतूहल, संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व का संचय करती हुई चरमसीमा तक पहुँचती है और फिर वहीं उसका अवसान होता है। इसीलिए आरंभ की भाँति उसका अन्त भी आकस्मिक होता है।

(५) एकांकी एक ही अंक में सम्पूर्ण होकर समाप्त होता है। एक अंक के अंतर्गत एक या कई दृश्य हो सकते हैं, पर उनके निर्माण में विषय की लाघवता के साथ-साथ समय की लाघवता का भी ध्यान रखा जाता है। वह एक ही बैठक और एक ही समय में समाप्त होनेवाली कृति है।

(६) एकांकी में नायक-प्रतिनायक की कल्पना अनिवार्य नहीं है। प्रधान पात्र के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र गौण हो सकते हैं, पर ऐसे समस्त पात्रों की संख्या पाँच के भीतर ही होनी चाहिए। अधिक पात्र होने से एकांकी का महत्त्व नष्ट हो जाता है और उसके प्रबन्ध में कठिनाई होती है।

(७) एकांकी में कथोपकथन प्रभावशाली, वेगपूर्ण, चुटीला, संयत और शिष्ट होता है। उसमें भाषा की व्यंजकता और उसकी सरसता पर विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है।

(८) एकांकी में संकलनत्रय—काल, कार्य और स्थान की एकता—का विशेष नियम नहीं है। कतिपय एकांकीकार एकांकी के लिए काल की एकता अनिवार्य मानते हैं, पर ऐसे भी एकांकी हैं जो इनकी उपेक्षा करके अपने में सम्पूर्ण और सफल हैं।

(६) एकांकी में जीवन के मर्म का उद्घाटन होता है। उसके निर्माण में हमें उसकी अभिनय-अनुकूलता की अपेक्षा उसकी सार्थकता पर विशेष रूप से ध्यान देना पड़ता है। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिए कि उसका उद्देश्य दर्शकों के लिए सस्ता मनोरंजन प्रस्तुत करना ही नहीं, वरन् उनके जीवन का परिष्कार करना भी है।

नाटक और एकांकी

एकांकी की जिन मौलिक विशेषताओं का उल्लेख अभी किया गया है उनसे यह भ्रम दूर हो जाता है कि एकांकी केवल एक छोटा नाटक अथवा नाटक का एक लघु संस्करण है। वास्तव में दोनों में महान् अन्तर है। नाटक की उत्पत्ति की कहानी हम पढ चुके हैं, एकांकी के उद्गम पर भी हम विचार कर चुके हैं और यह देख चुके हैं कि दोनों ने अपने भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाये हैं, दोनों की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न वातावरण में हुई है, दोनों की प्रगति और विकास में अन्तर है, दोनों के प्रभाव और रचना-शैली में भेद है। यहाँ हम अँगरेजी नाट्य-शास्त्र के अनुसार दोनों का अन्तर स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे :—

(१) नाटक हमारी प्राचीनतम् सम्पत्ति है। उनका उदय हमारी सभ्यता के उत्थान के साथ हुआ है। एकांकी हमारी नवीनतम् संपत्ति है। उनका आविर्भाव हमारी सभ्यता के चरमोत्कर्ष का द्योतक है।

(२) नाटक धार्मिक कृत्यों की उपज है; एकांकी हमारी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिखे गये हैं।

(३) नाटक की उत्पत्ति उस समय हुई जब हमारे जीवन में कोलाहल नहीं था, हमारी समस्याएँ कम थीं और हमारे पास मनोरंजन के लिए पर्याप्त अवकाश था। एकांकी जीवन की व्यस्तता का परिणाम है, उस जीवन की व्यस्तता का परिणाम है जिसकी अनेक समस्याएँ हैं और जिसमें विचारों का द्वन्द्व और आदर्शों का संघर्ष है।

(४) नाटक के प्रदर्शन में चार-पाँच घंटे का समय लगता है। एकांकी एक अथवा दो घंटे में समाप्त हो जाता है। इससे कम समय

में भी अभिनीत होनेवाले एकांकी लिखे गये हैं। रेडियो-एकांकी तो दस-पन्द्रह मिनट में ही समाप्त हो जाते हैं।

(५) नाटक में विषय का विस्तार है। वह सम्पूर्ण जीवन अथवा जीवन के किसी महत्त्वपूर्ण अंश की रंग-बिरंगी झाँकियाँ उतार सकता है। एकांकी में विषय का संकोच होता है। वह जीवन की एक ही झाँकी उतार सकता है, पर वह झाँकी ऐसी होती है जिसमें जीवन के भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों काल एक साथ प्रतिबिंबित होते हैं।

(६) नाटक का कथानक जटिल होता है। उसमें घटनाओं का जमघट-सा रहता है। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी—इस प्रकार घटनाओं का प्रवर्तन आदि से अन्त तक अजस्र रूप से होता रहता है। एकांकी में जीवन की एक ही घटना अथवा समस्या का चित्रण रहता है और वही घनीभूत होकर उसे आदि से अन्त तक अनुप्राणित एवं संदित करती रहती है।

(७) नाटक का विषय-निर्वाचन-क्षेत्र सीमित होता है। उसमें घटनाओं की विविधता और उनके विस्तार के लिए पर्याप्त अवसर भी रहता है। एकांकी का विषय-निर्वाचन-क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक होता है। जिस प्रकार जीवन की अनन्त समस्याएँ हो सकती हैं, उसी प्रकार एकांकी के विषयों की कोई सीमा नहीं है।

(८) नाटक का आरंभ भूमिका से होता है। एकांकी का आरंभ किसी प्रकार की भूमिका से नहीं होता। उसका उद्घाटन तुरन्त होता है और 'उसके प्रारंभिक वाक्य में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है।'

(९) नाटक में जीवन की विषम परिस्थितियों का अन्तर्द्वन्द्व रहता है। इसलिए उसमें दर्शकों की चित्त-वृत्तियों की एकाग्रता तथा उनके उपयुक्त संतुलन के लिए जो कला अपेक्षित है उसका अभाव-सा रहता

है। एकांकी में प्रायः विचारों का अन्तर्द्वन्द्व रहता है जो घनीभूत और संतुलित होकर दर्शकों की चित्त-वृत्तियों को समेट लेता है और उन्हें एकाग्र कर देता है।

(१०) नाटक का कथानक धीरे-धीरे आगे बढ़ता है और अपना रहस्य खोलता चलता है। एकांकी क्षिप्र गति से अग्रसर होता और 'एक-एक भावना घटना को घनीभूत करती हुई गूढ़ कौतूहल के साथ चरम सीमा में चमक उठती है।'

(११) नाटक में विषय की विविधता के अनुरूप चरमसीमा का विस्तार रहता है। उसमें उसका कथानक अपने समस्त वेग के साथ एक बिन्दु में खड़ा रहता है, पर वहीं उसका अन्त नहीं होता। एकांकी अपने कथानक के संकोच के अनुरूप क्षिप्र गति से चरमसीमा तक पहुँचकर और फिर बिजली की भाँति कौंधकर समाप्त हो जाता है।

(१२) नाटक की पात्र-कल्पना जटिल होती है। उसमें नायक, प्रतिनायक आदि का समुचित विधान रहता है और उनके चरित्र-चित्रण के लिए अन्य अनेक सहायक पात्रों की आवश्यकता पड़ती है। एकांकी की पात्र-कल्पना सरल होती है। उसमें नायक-प्रतिनायक आदि का विधान नहीं रहता।

(१३) नाटक का कथोपकथन शिथिल होता है और कभी-कभी उपदेशात्मक हो जाता है। एकांकी का कथोपकथन चुस्त, आवेगपूर्ण और संयत होता है।

(१४) नाटक में चार-पाँच अंक होते हैं और प्रत्येक अंक में कई दृश्य। उनमें क्रमबद्धता तो रहती है, पर वे अपने में सम्पूर्ण नहीं होते। एकांकी में केवल एक ही अंक रहता है और वह अपने में सम्पूर्ण रहता है। एक अंक के अन्तर्गत दृश्यों का विधान अनिवार्य नहीं है।

(१५) नाटक का रंगमंच जटिल होता है। उसका शृंगार करने

के लिए कई प्रकार के कलाकारों का सहयोग अपेक्षित होता है और उस पर जीवन की विविध प्रकार की झाँकियाँ प्रदर्शित करने के लिए अनेक प्रकार की सामग्री जुटानी पड़ती है। एकांकी का रंगमंच सरल और स्वाभाविक होता है। वह एक 'ड्राइंगरूम' जैसा होता है जिसका निर्माण आसानी से हो सकता है।

एकांकी और कहानी

एकांकी और कहानी में भी मौलिक भेद है। दोनों के विषय एक हो सकते हैं, दोनों की गढ़न भी एक-सी हो सकती है, पर एकांकी कहानी नहीं हो सकता। आजकल जो कहानियाँ लिखी जा रही हैं उनमें से कुछ ही एकांकी का रूप धारण कर सकती हैं। इसी प्रकार सभी एकांकी सफलतापूर्वक कहानियों के कथानक नहीं बन सकते। वस्तुतः दोनों में मौलिक अन्तर है और वह अन्तर है उद्देश्य का। कहानी का उद्देश्य एकांकी के उद्देश्य से भिन्न होता है। उद्देश्य की इसी भिन्नता के कारण उन दोनों की कला में भी अन्तर आजाता है। कहानी केवल श्रव्य और पठनीय है। उसका उद्देश्य पाठकों का मनोरंजन करना अथवा उनके दृष्टिकोण को विस्तृत करना होता है। एकांकी हमारी समस्त इन्द्रियों को एक साथ प्रभावित करता है। एकांकी दृष्टव्य है। उसका आनन्द देखने से ही प्राप्त हो सकता है। उसमें हमारी आशाएँ और आकांक्षाएँ, हमारे भाव और विचार, साकार रूप धारण करके हमारे सामने आते हैं। यह सत्य है कि कतिपय एकांकी अभिनय-प्रधान नहीं होते, पर अधिकांश अभिनय-प्रधान ही होते हैं। अभिनेयता उनका मुख्य गुण है। एकांकीकार को जो कुछ कहना होता है वह पात्रों के संवाद अथवा उनके अभिनय द्वारा ही कहता है। उसमें उसका व्यक्तित्व अप्रत्यक्ष रहता है। कहानीकार अपनी बात को केवल संवाद-द्वारा ही व्यक्त कर सकता है और उसमें उसका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता रहता है। हम संवाद का आनन्द न भी लें, पर एकांकी का अभिनय देखने के लिए हम लालायित हो उठते हैं।

एकांकी की इन विशेषताओं से एकांकी की धूमिल रूप-रेखा सामने आ जाती है और हम यह जान जाते हैं कि उसकी रचना में हमें किन-किन बातों पर ध्यान देना पड़ता है। एकांकी के तत्व प्रायः वही हैं जो नाटक के हैं। यहाँ संक्षेप में हम उन्हीं बातों पर विचार करेंगे :—

एकांकी के मूल तत्व

(१) कथानक—एकांकी की रचना में कथानक का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान है। जिस प्रकार प्रासाद खड़ा करने के लिए भूमि की आवश्यकता होती है उसी प्रकार एकांकी के लिए कथानक अपेक्षित है। कथानक एकांकी की आधार-भूमि है। इस आधार-भूमि का चुनाव हम जीवन के किसी भी क्षेत्र से कर सकते हैं। इतिहास की कहानियाँ, पुराण की कथाएँ, सामाजिक जीवन की घटनाएँ, दैनिक जीवन की समस्याएँ, राजनीतिक दाँव-पेंच और विचारधाराएँ, मानव-मानस में उठने-डूबनेवाले भाव तथा इनसे सम्बन्धित अन्य व्यापार और विचार—इनमें से कोई भी एकांकी का कथानक बन सकता है। यद्यपि इस प्रकार के विषयों के चयन में एकांकीकार की रुचि और उसकी क्षमता काम करती है, तथापि उसे यह देखना पड़ता है कि उसने जिस कथानक का चुनाव किया है वह एकांकी की आत्मा और उसके उद्देश्य के अनुकूल है अथवा नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि सफल कथानक में कतिपय विशेष तत्त्वों का होना परम आवश्यक है। वे तत्त्व हैं—उसकी वास्तविकता अर्थात् साधारण जीवन से उसका सम्बन्ध, एकाग्रता अर्थात् पग-पग पर कौतूहल और जिज्ञासा की सृष्टि; एकता अर्थात् प्रभाव और वस्तु का ऐक्य और आकस्मिकता अर्थात् अन्तिम फल को चरमसीमा तक अपने में छिपाये रखने की क्षमता। यह अन्तिम गुण ही कथानक का प्राण है और इसी के सफल निर्वाह में एकांकीकार की कला का उद्घाटन होता है।

(२) वस्तु-निर्माण—कथानक के चुनाव के पश्चात् एकांकी की रचना में वस्तु का महत्त्व है। वस्तु का पर्याय है 'प्लाट'। यह कथानक

का कलात्मक पक्ष होता है। जिस प्रकार कुशल माली अपने शारीरिक परिश्रम से भूमि को उर्वरा और पौधों को सुडौल बनाकर पुष्प-वाटिका में सौन्दर्य की सृष्टि करता है उसी प्रकार एकांकीकार अपने मानसिक श्रम से कथानक को काट-छाँटकर उसे आकर्षक और सजीव बनाता है। कथानक के इसी सजीव और आकर्षक रूप को वस्तु कहते हैं। वस्तु कथानक का परिणाम है। वस्तु की सफलता के लिए कथानक को रंगमंच का भी ध्यान रखना पड़ता है। रंगमंच की कठिनाइयाँ वस्तु-निर्माण में बहुत बाधक होती हैं। सफल एकांकीकार उन समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए कई साधनों से काम लेता है। ऐतिहासिक कथानकों के वस्तु-निर्माण में वह तत्कालीन जीवन के भिन्न-भिन्न अंगों का अध्ययन करता है और उन्हीं के अनुकूल वस्तु का शृंगार करता है। अशोक के समय की वस्तु को आधुनिक वेश-भूषा और रहन-सहन के माध्यम से चित्रित करना इतिहास और एकांकी की आत्मा पर कुठाराघात करना होगा। इसी प्रकार साधारण जीवन से सम्बन्धित कथानकों के वस्तु-निर्माण में निरीक्षण-शक्ति की आवश्यकता होगी। मनुष्यों की रहन-सहन, उनके आचार-विचार, उनके आदान-प्रदान तथा उनकी दैनिक जीवन-चर्या का वास्तविक परिचय निरीक्षण-शक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और फिर उसके द्वारा वस्तु में सजीवता लायी जा सकती है। वस्तु-संविधान में देश, काल और पात्र का ध्यान रखना आवश्यक है।

वस्तु-निर्माण में ध्यान देने योग्य दूसरी बात है घटना-सम्बन्धी। घटना की दृष्टि से एकांकी की वस्तु, नाटक की वस्तु से, भिन्न होती है। नाटक की वस्तु में कई घटनाओं—मुख्य तथा प्रासंगिक—का समावेश रहता है, पर एकांकी में एक ही घटना, एक ही समस्या, एक ही भाव अथवा विचार की प्रधानता रहती है। उसमें प्रासंगिक घटना, समस्या अथवा विचार को स्थान नहीं दिया जाता और यदि आवश्यकतावश दिया भी जाता है तो दोनों दूध-पानी की भाँति एक-दूसरे से मिले रहते हैं। इस प्रकार कला की दृष्टि से एकांकी-लेखक को वस्तु के

अनेक भागों पर कड़ा नियंत्रण रखना पड़ता है। वस्तु के जो-जो अंग और जो-जो स्थान वह चुनता है उन पर उसका पूरा अधिकार रहता है और उनमें ऐक्य तथ सामंजस्य स्थापित करता हुआ वह आगे बढ़ता है।

वस्तु-निर्माण में तीसरी ध्यान देने योग्य बात है दर्शकों का ध्यानाकर्षण। वस्तुतः वस्तु के विभिन्न अंगों में ऐक्य और समन्वय के पश्चात् इसी का महत्त्व है और इसकी स्थापना तभी हो सकती है जब उसमें विस्मय और संशयपूर्ण अन्त का विधान हो। कहने का तात्पर्य यह कि दर्शक आरंभ से ही विस्मय, कौतूहल और संशय के पाश में इतना जकड़ दिया जाय कि अन्त तक उसका छुटकारा न हो सके और एकांकी के पटाक्षेप के पश्चात् भी उसकी आत्मा विस्मय, संशय और उद्विग्नता के सागर में डूबती-उतराती रहे। इसमें सन्देह नहीं कि यह कार्य कठिन है। कथानक चुनना सरल है, वस्तु-समन्वय भी सरल है, पर दर्शक के मानस में विस्मय के प्रसार-द्वारा उसका ध्यानाकर्षण टेढ़ी खीर है। सभी दर्शकों का एक-सा मानसिक स्तर नहीं होता। वे एक ही विस्मय-भाव से सामान्य रूप से प्रभावित नहीं होते। कोई भावात्मक संशय से प्रभावित होता है तो कोई घटात्मक संशय से। किसी को तार्किक संशय प्रिय है तो किसी को कल्पनात्मक संशय। ऐसी स्थिति में सब को समान रूप से प्रभावित करना असंभव है। देखा गया है कि घटनात्मक संशयवाले एकांकी प्रायः साधारण स्थिति के लोगों को और भावात्मक, तार्किक तथा कल्पनात्मक संशयवाले परिष्कृत मस्तिष्क के लोगों को प्रिय होते हैं। ऐसी दशा में वह एकांकी कभी लोकप्रिय न होगा जिसका वस्तु-निर्माण कल्पना और तर्क के आधार पर होता है। 'लोकप्रियता के लिए घटनाओं का चक्रव्यूह चाहिए जिसमें पग-पग पर संशय और विस्मय का प्रसार हो।' इसका यह तात्पर्य नहीं कि एकांकी की वस्तु में कल्पना और तर्क का कोई स्थान ही नहीं है। वास्तव में एक उचित सीमा के भीतर ही इन दोनों के समावेश से वस्तु-

निर्माण में बड़ी सहायता मिलती है और घटनाओं का सौंदर्य बढ़ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि वस्तु को अपनी चरमसीमा तक पहुँचने के लिए किन-किन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है? इस प्रश्न के उत्तर में कलाकारों ने वस्तु-निरूपण की चार अवस्थाएँ निर्धारित की हैं—(१) प्रवेश, (२) अन्तर्द्वन्द्व, (३) चरमसीमा और (४) अन्त। एकांकी का आरंभ बिना किसी भूमिका के होता है। ऐसी दशा में एकांकीकार को एकांकी की पृष्ठभूमि, उसकी स्थिति तथा उसके पात्रों के सम्बन्ध में दर्शकों को शीघ्र-से-शीघ्र, संक्षेप में, परिचय दे देना पड़ता है। इसके साथ ही वह उन समस्त प्रासंगिक बातों का भी संकेत रूप में उल्लेख कर देता है जो एकांकी में स्पष्ट रूप से तो नहीं बतायी गयी हैं, पर उनकी छाया संपूर्ण एकांकी पर पड़ी है। यहीं एकांकी, नाटक से भिन्न हो जाता है। 'एकांकी के प्रारंभिक वाक्य में ही कौतूहल और जिज्ञासा की अपरिमित शक्ति भरी रहती है। उसका कथानक बड़ी तीव्रता से अग्रसर होता है और उसका प्रत्येक भाव घटना को घनीभूत करता हुआ गूढ़ कौतूहल के साथ चरमसीमा में चमक उठता है।' अपने इस उद्देश्य-सिद्धि के लिए एकांकीकार प्रायः तीन युक्तियों से काम लेता है। वह या तो रंग-संकेतों-द्वारा एक ऐसे कौतूहलपूर्ण वातावरण की सृष्टि करता है जिसके अनुभव-मात्र से दर्शक उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं या फिर वह मूक अभिनय करता है। एक तीसरी युक्ति और है और वह है संवाद-द्वारा वातावरण की सृष्टि। संवाद जितना ही रोचक और बोधगम्य होगा, एकांकी के प्रति दर्शकों का ध्यान उतना ही अधिक आकृष्ट होगा।

वस्तु-निर्माण की दूसरी अवस्था अन्तर्द्वन्द्व से आरंभ होती है। प्रवेश के पश्चात् यही एकांकी का महत्वपूर्ण स्थल है। इस स्थल के निरूपण में विस्मय और संशय के बीजारोपण से एकांकी गतिशील हो जाता है। इसके अतिरिक्त दो परस्पर विरोधी स्थलों, विचारों अथवा

पात्रों के व्यंजनापूर्ण चित्रण से एकांकी की वस्तु का प्रसार होता है और वह दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगता है। ऐसी दशा में एकांकीकार को बड़ी सावधानी से अपनी लेखनी उठानी पड़ती है। उसे यह देखना पड़ता है कि उसके कथानक की वस्तु जटिल तो नहीं होती जा रही है। प्रायः यह देखा गया है कि इस अवस्था के निर्माण में जटिल वस्तु को शीघ्र सुलझाने के लिए किसी नवीन पात्र को या तो जन्म देना पड़ता है या किसी पुराने पात्र को आत्महत्या के लिए विवश करना पड़ता है। एकांकी में ऐसी दोनों दशाएँ अस्वाभाविक हैं। एकांकीकार को इस प्रकार के दोषों से बचने के लिए पहले से ही सावधान रहना चाहिए। उसे अपनी कथा-वस्तु को चरमसीमा तक शीघ्र पहुँचाने की धुन में अपरिचित पात्रों की सृष्टि नहीं करनी चाहिए और यदि विवश होकर करनी ही पड़े तो उन्हें देर से रंगमंच पर नहीं लाना चाहिए। ऐसे दोषों का परिहार रहस्यात्मक संकेतों से हो सकता है। अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में जितने अधिक स्वाभाविक रहस्यात्मक संकेतों से काम लिया जाय उतना ही अधिक एकांकी सफल होगा।

इस संबंध में यह भी विचारणीय है कि प्रवेश और अन्तर्द्वन्द्व की अवस्थाओं में समय का अन्तर होना चाहिए अथवा नहीं? यदि इस प्रश्न का संक्षेप में उत्तर दिया जाय तो कहा जा सकता है कि 'नहीं'। वास्तव में एकांकी का क्षेत्र इतना संकुचित होता है कि प्रवेश की अवस्था समाप्त होते ही अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था आरंभ हो जाती है और ज्यों ही दोनों का मिश्रण होता है त्यों ही तीसरी अवस्था—चरमसीमा का सूत्रपात हो जाता है। इस अवस्था में द्वन्द्व एक ऐसे अत्यन्त ऊँचे स्तर पर आ जाता है जहाँ भावों का चरम विकास होता है। कहने का तात्पर्य यह कि इस अवस्था के आगे एकांकी में भावों के प्रसार के लिए अवसर ही नहीं रहता। ऐसी दशा में एकांकीकार को बड़े स्वाभाविक ढङ्ग से प्रथम दोनों अवस्थाओं—प्रवेश और अन्तर्द्वन्द्व—से होते हुए अपनी कथा-वस्तु को इस सीमा तक पहुँचाना चाहिए। उसे यह स्मरण रखना

चाहिए कि एकांकी में एक भाव, एक विचार की ही प्रधानता होती है। अतः जहाँ अनेक भाव हों वहाँ उसे उनमें से केवल एक ही महत्त्वपूर्ण भाव को अग्रसर करना चाहिए। यदि अनेक भाव उच्च स्तर पर आने के लिए संघर्षशील होंगे तो एकाकी का उद्देश्य नष्ट हो जायगा और उसके प्रभाव में बाधा उपस्थित होगी।

पाश्चात्य एकांकीकारों ने चरमसीमा के दो रूप स्थिर किये हैं— आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक में भावों की प्रधानता होती है और बाह्य में घटनाओं की। कभी-कभी दोनों का समन्वय भी हो जाता है और हमारी समझ से यही चरमसीमा का उत्कृष्ट रूप है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भावोत्कर्ष परिष्कृत मस्तिष्कवालों को प्रिय होता है, और घटनात्मक उत्कर्ष सर्वसाधारण को अपनी ओर आकृष्ट करता है। यदि चरमसीमा तक पहुँचते-पहुँचते दोनों का समन्वय हो जाय तो विस्मय का अन्त हो जाता है और एकांकी दोनों वर्गों के लिए समान रूप से प्रिय हो जाता है।

वस्तु-निर्माण की चौथी और अन्तिम अवस्था है—अन्त। इस अवस्था में दर्शक सम्पूर्ण वस्तु की गुत्थियों को सुलझी हुई दशा में देखता है। इसलिए यहाँ घटनाओं का विस्तार अनावश्यक और अरुचिकर है। एकांकी की यह अवस्था इतनी आकस्मिक होती है कि उत्कर्ष और उपकर्ष के बीच कितना समय बीता—यह बताना कठिन हो जाता है। एक प्रकार से उत्कर्ष में ही अपकर्ष का अवसान एकांकी की आत्मा के अनुकूल पड़ता है। पाश्चात्य नाट्य-कला की दृष्टि से यह अवसान कभी सुखान्त होता है और कभी दुखान्त। दुखान्त हमारी संस्कृति और सभ्यता के अनुकूल नहीं है। ऐसी दशा में हमें सुखान्त एकांकियों की रचना की ओर ही अग्रसर होना चाहिए।

वस्तु-निर्माण के सम्बन्ध में अब तक जो बातें बतायी गयी हैं उनसे यह स्पष्ट है कि उसकी चारों अवस्थाओं—प्रवेश, अन्तर्द्वन्द्व, चरमसीमा और अन्त—में सामंजस्य का होना परम आवश्यक है। प्रवेश

की अवस्था में **विस्मय**, अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था में **संशय**, उत्कर्ष की अवस्था में द्वन्द्व का वेग और अन्त की अवस्था में द्वन्द्व का स्वाभाविक, पर **आकस्मिक** ढङ्ग से अन्त जितना ही सामंजस्यपूर्ण होगा उतना ही एकांकी कला की दृष्टि से सफल और श्रेष्ठ होगा। एकांकी-रचना में लेखक को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि कहाँ, किस स्थल पर, किस घटना पर, किस संवाद पर तथा किस प्रभाव पर उसका अंत होना चाहिए। एकांकी की आत्मा के निकट आने का यही रहस्य है।

डा० रामकुमार वर्मा ने हिन्दी-एकांकी की गति-विधि का जो चित्र अपनी 'रेशमी टाई' में दिया है वह इस प्रकार है :—
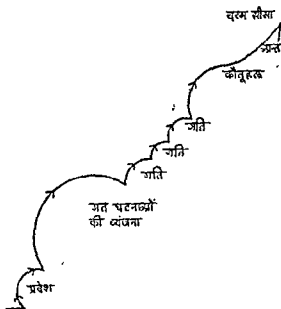
एकांकी की गति

एकांकी के इस गति-विधि के संबंध में उनका मत है कि 'प्रवेश कुतूहलता की वक्रगति से होता है। घटनाओं की व्यंजना उत्सुकता से लम्बी हो जाती है। फिर घटना में गति की तरंगें आती हैं जो कुतूहलता से खिंचकर चरमसीमा में परिणत हो जाती हैं। चरमसीमा के बाद ही एकांकी नाटक की समाप्ति हो जानी चाहिए, नहीं तो समस्त कथानक फीका पड़ जाता है।'

(३) चरित्र-चित्रण—अब चरित्र-चित्रण पर विचार कीजिए। आधुनिक नाट्यशास्त्र के अनुसार चरित्र-विकास में दो उपादानों से विशेष सहायता मिलती है—एक तो गौण पात्रों से और दूसरी प्राकृतिक व्यापारों से। नाटक के अन्तर्गत हम नायक-नायिका आदि के सम्बन्ध में बता चुके हैं। यहाँ इतना ही बताना अलम् होगा कि एकांकी में नायक-प्रतिनायक की सृष्टि विशेषतः ऐसे अवसरों पर की जाती है जहाँ प्रेम का वाह्य संघर्ष प्रस्तुत करना रहता है, अन्यथा इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। केवल नायक अथवा नायिका से ही एकांकी का पूरा ढाँचा खड़ा हो जाता है। प्रधान पात्र के अतिरिक्त सभी पात्र गौण होते हैं और वे प्रधान पात्र से संबंधित नाटकीय वस्तु को विकसित करने में ही सहायक होते हैं। ये चार प्रकार का कार्य करते हैं—(१) उत्तेजक, (२) माध्यम, (३) सूचक और (४) प्रभाव-व्यंजक। ऐसे गौण पात्र जो कथा-सूत्र को उत्तेजित करके उसे आगे बढ़ाते हैं, उत्तेजक होते हैं। माध्यम पात्र से तात्पर्य उस पात्र से है जो प्रधान पात्र के मनोगत भावों को 'स्वगत' होने से रोकता है। आजकल नाटक में 'स्वगत' का प्रयोग अस्वाभाविक माना जाता है। ऐसी दशा में मित्र आदि के रूप में एक ऐसे पात्र की कल्पना की जाती है जो प्रधान नायक के मनोगत भावों को व्यक्त करता चलता है। सूचक ऐसे पात्र होते हैं जो नाटकोपयोगी कोई सूचना देते हैं अथवा पिछली किसी घटना की याद दिलाकर कथा को गतिशील बना देते हैं। माध्यम सूचक का भी कार्य कर सकता है, पर ऐसा तभी होता है जब पात्रों की संख्या कम करनी हो।

प्रभाव-व्यंजक ऐसे गौण पात्र होते हैं जो कहीं रहस्यमय संकेत, इंगित अथवा भूमिका की भाँति अकस्मात उपस्थित होते हैं और एकांकी के प्रभाव को कुछ-का-कुछ रूप दे देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन पात्रों की सहायता से प्रधान पात्र के चरित्र-विकास में बड़ी सहायता मिलती है। कुशल एकांकीकार इनका उपयोग बड़ी सावधानी और कलात्मक ढङ्ग से करते हैं।

चरित्र-विकास में प्राकृतिक व्यापारों से भी सहायता ली जाती है। उत्तेजक के लिए कोई भी उद्दीपक सामग्री हो सकती है। तार, फल, फूल, पत्र आदि किसी से भी प्रधान नायक उत्तेजना ग्रहण करके वस्तु-विस्तार कर सकता है। इसी प्रकार वस्तुओं अथवा संवादों-द्वारा माध्यम का काम लिया जा सकता है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है माध्यम, सूचक हो सकता है, पर सूचक माध्यम नहीं होता। बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जिनसे भविष्य में होनेवाली बातों का संकेत मिलता है। इसके साथ ही ऐसे भी पदार्थ अथवा प्राकृतिक व्यापार हैं जिनसे भूतकालीन बातों का भी परिचय मिलता है। प्रभाव-व्यंजक पात्रों की भाँति पदार्थ भी प्रभाव-व्यंजक होते हैं जो अकस्मात् अपनी उपस्थिति से एकांकी के प्रभाव को कुछ-का-कुछ रूप दे देते हैं। संक्षेप में, एकांकी में ऐसे उपादान आसानी से मिल सकते हैं जिनके कारण उसमें गति आती है और प्रधान पात्र के चरित्र-विकास में सहायता मिलती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में चरित्र-विकास के जिन उपादानों पर विचार किया है उन्हें प्रयोग में लाते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि चरित्र-चित्रण जितना ही स्वाभाविक, निष्पक्ष सहानुभूतिपूर्ण, देश-काल के अनुरूप और मनोवैज्ञानिक होगा उतना ही अधिक एकांकी सफल होगा। एकांकी में नायक का व्यक्तित्व अन्य पात्रों के व्यक्तित्व की अपेक्षा सर्वथा भिन्न होता है। उसका स्वत्व और उसके उत्तरदायित्व की सीमा भी पृथक होती है। ऐसी दशा में नायक और गौण पात्रों के पारस्परिक

में कथोपकथन ही एकांकी का सर्वस्व है। इसी के सफल निर्वाह पर एकांकी उद्देश्यपूर्ण होता है। इसी के द्वारा उसकी चारों अवस्थाएँ—प्रवेश, अन्तर्द्वन्द्व, उत्कर्ष और अपकर्ष—सामने आती हैं और पात्रों के चरित्र-विकास में सहायता प्रदान करती हैं। संक्षेप में, यही एकांकी का प्राण और यही उसकी आत्मा है। अतः यह जितना स्पष्ट, जितना मार्मिक, जितना स्वाभाविक और जितना प्रभावपूर्ण तथा सुलझा हुआ होगा उतना ही एकांकी सजीव, गतिमय और कला की दृष्टि से परिपूर्ण होगा।

संवाद का प्रधान गुण है प्रभावोत्पादकता। यदि संवाद स्थायी प्रभाव नहीं डालता तो दर्शक अछूता रहेगा और एकांकी के किसी भी अंग की पुष्टि नहीं होगी। ऐसी दशा में एकांकीकार को बड़ी सावधानी से संवाद-रचना की ओर अग्रसर होना चाहिए। उसे अपने संवाद के प्रत्येक शब्द को नाप-तौलकर, तथा एकांकी की आत्मा के अनुरूप साँचे में ढालकर स्थान देना चाहिए और अपनी भाषा तथा अपने भावों पर पूरा नियंत्रण रखना चाहिए। एकांकी का वस्तु-क्षेत्र नाटक के वस्तु-क्षेत्र की अपेक्षा संकुचित होता है। ऐसी दशा में एकांकी की भाषा अत्यन्त सुव्यवस्थित, सुरुचिपूर्ण, सयत, प्रसाद-गुण-युक्त और साधारण बोल-चाल से कुछ उठी हुई होनी चाहिए। थोड़े में अधिक कहने की कला एकांकी के संवाद का मूलाधार है। साथ ही उसका कोई-न-कोई प्रयोजन होना आवश्यक है। प्रयोजन-हीन संवाद का एकांकी में कोई स्थान नहीं है। संवाद के तीन ही प्रयोजन हैं—वह वस्तु की प्रगति, चरित्र के विकास और भावों के स्पष्टीकरण एवं उनको गंभीर बनाने में सहायक होता है। यदि उससे ये तीनों प्रयोजन सिद्ध नहीं होते तो उसका कोई मूल्य ही नहीं है। एकांकी का मुख्य कार्य है—जीवन के किसी एक स्थल अथवा अनुभव को स्पष्ट और प्रभावोत्पादक बनाना। लेखक यदि अपनी संवाद-कला-द्वारा सफलतापूर्वक इस उद्देश्य की पूर्ति कर देता है तो संपूर्ण एकांकी अनुप्राणित और स्पंदित हो उठता है। नीरस, गतिहीन

और हास्य, व्यंग्य, श्लेष आदि से रहित संवाद एकांकी रचना में आकार-वृद्धि के अतिरिक्त कोई महत्त्व नहीं रखते।

(५) शैली—शैली एकाकीकार की अपनी वस्तु है, उसके भाव-प्रकाशन का मुख्य मार्ग है। इसी से उसकी प्रतिभा, उसकी कला, उसकी निरीक्षण-शक्ति, उसकी क्षमता और उसके व्यावहारिक ज्ञान का यथेष्ट एवं वास्तविक परिचय मिलता है। इसी के द्वारा हम उसकी आत्मा का दर्शन करते हैं और उसे सहस्रों के बीच शीघ्र पहचानने में समर्थ होते हैं। लेखक और पाठक के बीच शैली ही एक ऐसा माध्यम है जो अप्रत्यक्ष रूप से दोनों में एक-दूसरे के प्रति श्रद्धा, प्रेम और सहानुभूति की सृष्टि करता है और उनके पारस्परिक सम्बन्ध को स्थायित्व प्रदान करता है। अतः एकांकी-रचना में शैली का भी महत्त्व-पूर्ण स्थान है।

हम बता चुके हैं कि शैली का संबंध मुख्यतः लेखक के व्यक्तित्व से होता है। ऐसी दशा में उसके सिद्धान्तों का निरूपण अपूर्ण ही रहता है। सुविधा की दृष्टि से उसके दो रूप हो सकते हैं—बाह्य और आन्तरिक। एकांकी-रचना में शैली के बाह्य रूप का सम्बन्ध उसकी कथा-वस्तु, उसकी पात्र-कल्पना, उसकी संवाद-योजना, उसकी उद्देश्य-स्थापना, उसकी प्रभाव-व्यंजकता और उसकी भाषा से होता है। इस दृष्टि से उसके, एक नहीं, अनेक भेद हो सकते हैं। आन्तरिक दृष्टि से एकांकी की शैलियाँ दो प्रकार की होती हैं। एक है विकास की शैली और दूसरी है उद्घाटन की शैली। इन दोनों में से किसी एक का आरंभ एकांकी की वस्तु में प्रवेश के पश्चात् गति आने पर होता है। प्रथम शैली के अनुसार एक क्रमिक उतार-चढ़ाव के सहारे घटना अथवा चरित्र अपनी चरमसीमा तक पहुँचता है और अन्त में उसका संपूर्ण रहस्य उद्घाटित होता है। दूसरी शैली में विकास का कोई क्रम नहीं होता। उसमें घटनाओं अथवा विचारों की तहें खुलती चलती हैं और उनका अन्त कहीं पर भी जाकर हो जाता है। इस प्रकार पहली विकास-

प्रधान है, दूसरी व्याख्या-प्रधाना। पहली के द्वारा जहाँ हमारी जिज्ञासा अनुप्राणित होकर पुष्ट हो जाती है, वहाँ दूसरी के द्वारा उसके परितोष का कोई निश्चित साधन नहीं है। वह प्रायः बीच में ही उलझी रह जाती है। इस प्रकार पहली में वस्तु-कौशल है और दूसरी में मनोविश्लेषण की शक्ति। इन दोनों शैलियों के अनुसार हिन्दी में दो प्रकार के एकांकी मिलते हैं—एक तो **विकासवाले** और दूसरे **संघर्षवाले**। जिस प्रकार बीज धीरे-धीरे विविध प्राकृतिक तत्त्वों से पोषक सामग्री ग्रहण करता हुआ वृक्ष का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार विकासवाले एकांकियों में नाटकीय तत्त्वों से शक्ति संचय करती हुई घटना आगे बढ़ती है और अपनी गति को चरितार्थ एवं दर्शकों की जिज्ञासा को तृप्त करने के लिए अनेक उपादानों और दृश्यों का सहारा लेती चलती है। ऐसी दशा में उसमें बाहरी संघर्ष के लिए स्थान नहीं रहता। सेठ गोविन्ददास तथा डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी प्रायः इसी शैली में निरूपित हुए हैं। इसके विरुद्ध भुवनेश्वर के एकांकी 'संघर्ष' की शैली में लिखे गये हैं। संघर्षवाले एकांकियों में संघर्ष स्पष्ट दिखायी भी देता है। उनमें दो पात्र गुँथे हुए, एक-दूसरे पर घात-प्रतिघात करते हुए चलते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि इस संघर्ष से तात्पर्य चारित्रिक द्वन्द्व से नहीं है। चारित्रिक द्वन्द्व व्यक्तिगत होता है और वह विकासवाले एकांकियों में भी रह सकता है। संघर्षवाले एकांकियों में पात्रों का द्वन्द्व होता है, चारित्रिक द्वन्द्व नहीं। ऐसे एकांकी प्रायः बिना चरमोत्कर्ष (क्लाइमैक्स) के होते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि एकांकी-रचना में चरमोत्कर्ष का होना अनिवार्य नहीं है। कलाकार अपनी सूझ-बूझ, अपनी प्रतिभा और अपनी कला के समुचित प्रयोग से उसकी उपेक्षा भी कर सकते हैं। सेठ गोविन्ददास ने दोनों प्रकार के प्रयोग बड़ी सफलता पूर्वक किये हैं। उनका 'स्पर्द्धा' एकांकी बिना क्लाइमैक्स का है।

(६) उद्देश्य—अब हम एकांकी के अन्तिम तत्त्व पर आते हैं। यह

है उसका उद्देश्य। प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुसार रूपक और उप-रूपक की रचना किसी उद्देश्य-विशेष से नहीं होती थी, पर आज पाश्चात्य विचार-धारा के प्रभाव से हमारी साहित्यिक मान्यताओं में अन्तर आ गया है और हमारी रचनाएँ सोद्देश्य होने लगी हैं। एकांकी भी सोद्देश्य रचना है। उसके कई उद्देश्य हो सकते हैं। नीति, राजनीति, धर्म, देश-भक्ति, विश्व-बन्धुत्व, मानवता, जीवन-दर्शन, सामयिक समस्याएँ आदि कोई भी विषय चुनकर एकांकीकार अपने उद्देश्य की घोषणा कर सकता है, पर उसका वास्तविक उद्देश्य मानव-जीवन का आदर्श एवं यथार्थ चित्रण ही है जिसके द्वारा वह असत्य पर सत्य की, अन्याय पर न्याय की, अधर्म पर धर्म की विजय दिखाता है। मानव में सत्-असत् जल और मिश्री की भाँति घुले-मिले हैं। उसके हृदय में परस्पर विरोधी एवं विपरीत अन्तः वृत्तियाँ भी पायी जाती हैं। कभी उसमें सत् की प्रधानता होती है, कभी असत् की। एक ही मनुष्य में देश, काल और परिस्थिति के कारण वे बदला भी करती हैं। ऐसी दशा में एकांकीकार अपने प्रत्यक्षानुभव के आधार पर अपनी रचना का उद्देश्य स्थिर करता है और उसे अपनी कला की खराद पर चढ़ाकर इतना आकर्षक और मोहक बना देता है कि दर्शकों पर उसका तुरन्त प्रभाव पड़ता है। आज हिन्दी में जितने एकांकी लिखे जा रहे हैं वे जीवन की कोई-न-कोई समस्या ही लेकर हमारे सामने आ रहे हैं।

एकांकी के तत्वों के संबंध में अभी जो कुछ कहा गया है उससे यह समझ में आ गया होगा कि उसका क्षेत्र, विषय और नाट्य-विधान अधिक विस्तृत और व्यापक है। उसमें विषय की एकता के साथ-साथ प्रभाव की एकता तथा वातावरण की एकता होना परम आवश्यक है। विषय की एकता होने पर भी यदि घटनाओं के प्रभाव में एकरसता न हुई, और भिन्न-भिन्न घटनाओं का दर्शकों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ा तो एकांकी का उद्देश्य विफल हो जाता है। उद्देश्य की सफलता के लिए प्रभाव-ऐक्य अनिवार्य है। इसी के साथ वातावरण की एकता भी

वांछनीय है। एकांकी में उद्देश्य की ओर अग्रसर करनेवाले जो उपकरण होते हैं उन पर वातावरण की एकता का विशेष प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार विषय, प्रभाव और वातावरण का जब पूरी तरह गठबंधन हो जाता है और उनका सम्मिलित प्रभाव प्रधान पात्र पर पड़ता है तब एकांकी अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँचता है।

एकांकी के भेद

अब प्रश्न यह है कि हिन्दी-एकांकी का वर्गीकरण किस आधार पर किया जाय? यह तो निर्विवाद है कि नाट्य-कला की यह परम्परा हमें अँगरेजी से मिली है और अभी इसका साहित्य अपने निर्माण-काल में है। ऐसी दशा में हमें अब तक जो एकाकी उपलब्ध हैं हम उनके आधार पर ही केवल शैली, विषय और मूल-वृत्ति के अनुसार उनका वर्गीकरण कर सकते हैं।

१—शैली के अनुसार एकांकी के भेद

पाश्चात्य नाटककारों ने शैली के अनुसार एकांकी के मुख्यतः दो भेद किये हैं—(१) सुखांत और (२) दुखांत। सुखांत की शैली हमारी नाट्य-परम्परा के अनुकूल है, पर दुखांत पाश्चात्य नाट्य-साहित्य की देन है। हिन्दी में अभी इस प्रकार के एकाकी कम मिलते हैं। इन दो भेदों के अतिरिक्त आठ भेद और भी किये जा सकते हैं जो इस प्रकार हैं:—

(१) सरल शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार केवल उतना ही कहता है जितने से उसका उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। वह कथन की वक्रता में नहीं, कथन की सरसता एवं सरलता में विश्वास करता है और साधारण परिस्थितियों से अपने कथानक का चयन करता है। डा० रामकुमार वर्मा का **परीक्षा** सरल शैली में लिखा गया है।

(२) गम्भीर शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार गम्भीर विषयों का प्रतिपादन गम्भीर भाषा में करता है। विचारा-

त्मक और दार्शनिक एकांकी इसी शैली में लिखे जाते हैं। भट्टजी का धूम शिखा इसी शैली में लिखा गया है।

(३) व्यंगात्मक शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार जो कुछ कहना चाहता है उसे ऐसे शब्दों में कहता है जिनसे एक दूसरी ही ध्वनि निकलती है। इस शैली में व्यंग, कटाक्ष, चुटीलापन, उक्ति-वैचित्र्य, वाक्-वैदग्ध होता है। भुवनेश्वर का स्ट्राइक इसी शैली में लिखा गया है।

(४) हास्यात्मक शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार हास्य और विनोद की सृष्टि करता है। भगवतीचरण वर्मा का सबसे बड़ा आदमी इसी शैली में लिखा गया है।

(५) भावात्मक शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार अनुभूति तथा कल्पना प्रधान कथनाकों को एकांकी का रूप देता है। इसमें पद्य की प्रधानता रहती है और पात्र प्रायः देवता होते हैं। हमारे साहित्य में इस शैली के एकांकी कम लिखे गये हैं। इस शैली पर पाश्चात्य नाट्य-कला का विशेष प्रभाव है। उदयशंकर भट्ट का विश्वामित्र भावात्मक शैली में लिखा गया है।

(६) गीतात्मक शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार अनुभूति तथा कल्पया-प्रधान कथानकों को एकांकी-का रूप देता है। यह आदि से अन्त तक पद्यात्मक रचना होती है और इसमें दृश्यों का अभाव-सा रहता है। भट्टजी भी का मत्स्यगंधा इसी शैली में लिखा गया है।

(७) प्रतीकात्मक शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार अमूर्त को मूर्त रूप देकर कल्पना एवं अनुभूति के आधार पर कथानकों की सृष्टि करता है और फिर उन्हें एकांकी का रूप देता है। यह शैली अत्यन्त पुष्ट, गंभीर और चिन्ताशील होती है। प्रसादजी का एक घूँट इसी शैली में लिखा गया है।

(८) आलोचनात्मक शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत

एकांकीकार अपने को जीवन का आलोचक समझकर उसकी दुर्बलताओं का उद्‌घाटन करते हैं। ऐसा करने में वे न तो किसी समस्या की सृष्टि करते हैं और न किसी आदर्श की स्थापना। यथार्थ का चित्रण भी उनका उद्देश्य नहीं होता। वर्तमान जीवन में जो हो रहा है, उसी को प्रकाश में लाना उनका एकमात्र ध्येय होता है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए वे ऐसे कथानकों की सृष्टि करते हैं जो कल्पित होते हुए भी यथार्थ जगत् से सम्बन्धित होते हैं। इसके दो रूप हैं—एक विवेकात्मक और दूसरा भावुकात्मक। विवेकात्मक की रचना तर्क-प्रधान होती है। उसमें बुद्धि-विलास रहता है और प्रत्येक समस्या बुद्धि की तुला पर तौली जाती है। भावुकात्मक में तर्क का अभाव रहता है। उसमें घटना विश्लेषित होकर स्वयं लाञ्छित और आलोचित हो जाती है। भावुकता का अंश उसमें अधिक रहता है।

(९) समस्या-प्रधान शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार वर्तमान काल की समस्याओं को कथानक का रूप देकर जनता का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट करते हैं। ऐसी समस्याएँ मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं—सामाजिक, राजनीतिक अथवा यौन-सम्बन्धी। सफल एकांकीकार देश, काल और परिस्थिति के अनुकूल अपनी संस्कृति एवं सभ्यता का ध्यान रखते हुए ही इन समस्याओं पर विचार करते हैं और उनका निर्णय या तो स्वयं करते हैं, या उसका भार समाज के कर्णधारों पर छोड़ देते हैं।

(१०) चारित्रिक शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार का उद्देश्य किसी व्यक्ति का विशेष रूप से चरित्र-चित्रण करना होता है। यह घटना-प्रधान एकांकी से भिन्न होता है। सेठ गोविन्ददास का **अधिकार लिप्सा** चारित्रिक एकांकी का सफल उदाहरण है।

(११) संवादात्मक शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार संवाद-रूप में अपने कथानक को प्रस्तुत करते हैं। अँगरेजी

के मोनोड्रामा भी इसी प्रकार के होते हैं। सेठ गोविन्ददास का चतुष्पद इसी शैली में है।

(१२) घटना-प्रधान शैली के एकांकी—इस शैली के अन्तर्गत एकांकीकार की प्रवृत्ति पात्र की पात्रता की अपेक्षा घटना के तारतम्य की ओर अधिक रहती है और उसे वह तीन पृथक्-पृथक् रूपों में प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। इनमें से पहला रूप है तथ्य-प्रदर्शक एकांकी का। इस प्रकार के एकांकी में एकांकीकार घटना-विशेष द्वारा सदेश देने अथवा निष्कर्ष निकालने की प्रवृत्ति से दूर रहकर जो देखता है और जो समझता है केवल उसे ही यथार्थतः प्रस्तुत कर देता है। सेठ गोविन्ददास का मानव-मन इसी शैली में लिखा हुआ एकांकी है। इसके विरुद्ध है आदर्श मूलक एकांकी। यह घटना-प्रधान एकांकियों का दूसरा रूप है। इसमें एकांकीकार पुराण, इतिहास अथवा कल्पना-प्रसूत घटना-विशेष के आधार पर किसी आदर्श की स्थापना करता है। घटना-प्रधान एकांकी का तीसरा रूप हमें व्याख्यामूलक एकांकियों में मिलता है। इस प्रकार के एकांकियों के कथानक या तो पौराणिक कथाएँ होती हैं अथवा इतिहास-प्रसिद्ध घटनाएँ। एकांकीकार इन कथानकों को अपनी कला का विषय बनाकर नूतन सामयिक दृष्टिकोण से उनकी व्याख्या करता है।

२—विषय के अनुसार एकांकी के भेद

नाटककारों के सम्मुख नाटक-रचना के लिए विषय की कमी नहीं रहती। मानव-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक प्रकार के विषय उनके कथानकों के विषय बन सकते हैं। यहाँ विविध विषयों के अनुसार एकांकी के निम्न भेद हो सकते हैं :—

(१) पौराणिक एकांकी—हमारे देश की पौराणिक कथाओं में नाटकीय विषयों का अक्षय भाण्डार है। इन कथाओं के आधार पर एकांकी-रचना का उद्देश्य प्राचीन संस्कृति और प्राचीन सभ्यता को

जीवित रखना है और उससे बराबर प्रेरणा ग्रहण करते रहना है। हम इसी दृष्टि से अपने पौराणिक ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं और उन्हें साहित्यिक रूप देते हैं। हिन्दी में पौराणिक एकांकियों का यही महत्त्व है। डा० रामकुमार वर्मा का **राजरानी सीता** पौराणिक एकांकी का सफल उदाहरण है।

(२) ऐतिहासिक एकांकी—नाटककारों के सम्मुख पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त ऐतिहासिक कथाओं का अमर कोष भी प्रस्तुत रहता है। ऐतिहासिक विषयों में राजाओं की जीवनी, उनके अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य, उनका पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय और वैयक्तिक जीवन; सामन्तों, वीरों, नेताओं और सुधारकों के त्याग की कहानियाँ, तथा इसी प्रकार की अन्य उथल-पुथल करनेवाली राजनीतिक घटनाएँ ऐतिहासिक एकांकियों के लिए सामग्री उपस्थित कर सकती हैं। एक कुशल एकांकीकार ऐसी ही सामग्री को कथानक का रूप देकर जब उसे रंगमंच पर प्रदर्शित करता है तब दर्शक का हृदय अपने देश के भूतकालीन गौरव से अनुप्राणित हो उठता है और उसमें राष्ट्रीय भावना का उदय होता है। ऐतिहासिक एकांकी का यही लक्ष्य है। डा० रामकुमार वर्मा का **शिवाजी** ऐतिहासिक एकांकी का सफल उदाहरण है।

(३) सामाजिक एकांकी—सामाजिक आचार-विचार, रीति-रिवाज तथा रहन-सहन ने भी नाटक-रचना के लिए यथेष्ट विषय प्रस्तुत किये हैं। इन विषयों का उद्देश्य है सामाजिक गुत्थियों को सुलभाना और उनके प्रति जनता को सचेत करना। इस दृष्टि से समस्त सामाजिक विषयों के दो रूप हो सकते हैं—एक तो सामाजिक व्यवस्था-संबंधी और दूसरा सामाजिक समस्या-संबंधी हिन्दी-नाटककारों ने इन दोनों क्षेत्रों में विशेष सफलता प्राप्त की है। उन्हें जहाँ एक ओर सामाजिक व्यवस्था की तीव्र आलोचना द्वारा-समाज को जागरित किया है वहाँ कुछ ऐसी नवीन समस्याओं की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट किया है जिनका सुलझाना अत्यन्त आवश्यक हो गया है। उदयशंकर भट्ट का **स्त्री का हृदय** इसका सफल उदाहरण है।

(४) राजनीतिक एकांकी—इस प्रकार के एकांकियों का विषय राजनीति होता है और इसके अन्तर्गत उन समस्त विचारों तथा घटनाओं को स्थान दिया जाता है जो जनता के राजनीतिक जीवन को समय-समय पर प्रभावित करते रहते हैं। वर्तमान राष्ट्रीय जीवन में पूँजीपतियों, श्रमजीवियों और किसानों आदि की समस्याएँ इतनी घर कर गयी हैं कि साहित्य में हम उनकी उपेक्षा ही नहीं कर सकते। इसी प्रकार युद्ध आदि ने भी साहित्य के विभिन्न अंगों को प्रभावित किया है। ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न वादों की सृष्टि हुई है और उनमें अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष चल रहा है। फलतः आज हम अपने साहित्य में पूँजीवाद के विरुद्ध साम्यवादी आदर्शों का प्रचार, तानाशाही के विरुद्ध जनतंत्र की घोषणा, हिंसा के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार, साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनतंत्र के आदर्शों का प्रचार, युद्ध के विरुद्ध शान्ति का प्रचार तथा इसी प्रकार अनेकानेक विषयों को जब हम एकांकी के माध्यम से जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं तब हम उन्हें राजनीतिक प्रचारात्मक एकांकी कहते हैं। इस प्रकार के एकांकियों की रचना में एकांकीकार को निष्पक्ष होकर और अपने व्यक्तित्व को सबसे पृथक् रखकर, प्रत्येक 'वाद' के आदर्शों की छानबीन करनी पड़ती है और तब उसे अपना निर्णय देना पड़ता है। हिन्दी में अभी ऐसे कलाकारों का अभाव है।

(५) दार्शनिक एकांकी—इस प्रकार के एकांकियों का विषय दर्शन अथवा अध्यात्म होता है और कल्पना अथवा अनुभूति के आधार पर उनके कथानक की सृष्टि की जाती है। उनमें आदि से अन्त तक शान्त रस रहता है और पात्र गंभीर और तत्वदर्शी होते हैं। हिन्दी में ऐसे एकांकी डा० रामकुमार वर्मा और सेठ गोविन्ददास के मिलते हैं।

(६) हास्यात्मक एकांकी—इस प्रकार के एकांकियों के विषय दैनिक जीवन की साधारण घटनाएँ होती हैं—ऐसी साधारण घटनाएँ होती हैं जिनकी ओर साधारण मनुष्य की दृष्टि ही नहीं जाती और यदि जाती भी है तो अत्यंत धुँधले रूप में। एकांकीकार उन घटनाओं को

एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है और उन्हें अभिनयात्मक रूप देकर उनकी ओर सर्वसाधारण को आकृष्ट करता है। डा० एस० पी० खत्री का **चौराहा** इसी प्रकार का एकांकी है।

(७) मनोवैज्ञानिक एकांकी—इस प्रकार के एकांकियों का मुख्य उद्देश्य मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य की विचार-परम्परा का दिग्दर्शन कराना है। वास्तव में मनुष्य विचारशील होने पर भी अपने आपको भूला रहता है। ऐसी दशा में जब वह रंगमंच से अपने आन्तरिक विचारों की झाँकियाँ प्रस्तुत होते हुए देखता है तब वह जाग उठता है, चेतना-सम्पन्न हो जाता है और अपने आपको पहचानकर स्वयं अपना सुधार करने लगता है। हिन्दी में ऐसे एकांकी अभी कम लिखे गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एकांकी, शैली और विषय की दृष्टि से, कई प्रकार के होते हैं जिनमें आपस में मौलिक भेद है। वास्तव में विभिन्न दृष्टियों से एकांकी के इतने रूप और इतने प्रकार हो सकते हैं कि यहाँ उन सब पर विचार ही नहीं हो सकता। एकांकी का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है। रेडियो के प्रचार एवं प्रसार से उसे विशेष प्रोत्साहन मिला है और उसकी कला में भी परिवर्तन हुआ है। अभिनय और संवाद के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। छाया-अभिनय, मोनोड्रामा, फैंटेसी, प्रतीकात्मक एकांकी, गीति-नाट्य, भाव-नाट्य, नृत्य-नाट्य आदि नवीनतम् प्रयोगों के ही परिणाम हैं। अभी इस दिशा में विशेष उल्लेख-नीय कार्य नहीं हो पाया है, पर होगा अवश्य। यहाँ विद्यार्थियों की सुविधा की दृष्टि से हमने उनमें से अधिकांश को केवल उपर्युक्त दो ही वर्गों में विभाजित किया है।

रेडियो-एकांकी

एकांकी के जिन रूपों का उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियों में हुआ है उनके अतिरिक्त रेडियो-एकांकी भी इस युग की एक देन है। यह विज्ञान का चमत्कार है। इस चमत्कार के फलस्वरूप एकांकी की शैली और वस्तु में विशेष परि-वर्तन हुआ है। इससे एकांकी की दो भिन्न-भिन्न धाराएँ हो गयी हैं

जिन्हें हम रेडियो-एकांकी और रंगमंचीय एकांकी कह सकते हैं। इन दोनों प्रकार के एकांकियों में निश्चित रूप से अन्तर है। रेडियो-एकांकी केवल ध्वनि पर अवलंबित रहते हैं। उनके अभिनेता हमारी आखों के सामने नहीं आते। वे केवल शब्दों-द्वारा ही हमारा मनोरंजन और हमारे विचारों का परिमार्जन एवं पोषण करते हैं। रंगमंचीय एकांकी के अभिनेता हमारे सामने आते हैं और अपने शारीरिक, मुखज एवं वाचिक अभिनयों-द्वारा हमारे जीवन और जगत् की झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार रेडियो-एकांकी जहाँ केवल हमारी कर्णेन्द्रिय के विषय हैं वहाँ रंगमंचीय एकांकी हमारी चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय को समान रूप से एक साथ प्रभावित करते हैं। रेडियो-एकांकी में केवल संवाद होता है जिसका माध्यम है रेडियो-स्टेशन का माइक्रोफोन। दृश्य एकांकी की भाव-भंगिमा के स्थान पर इसमें स्वर-संक्रम अथवा स्वर-भेद का महत्त्वपूर्ण स्थान रहता है। उसी के आधार पर कार्य-गति की कल्पना की जा सकती है।

रेडियो-एकांकी का एक रूप रेडियो रूपक—रेडियो फीचर भी है। इसमें नाटकीयता कम, पर वर्णन अधिक रहता है। इसमें जो बातें सम्भाषण-द्वारा प्रस्तुत नहीं की जा सकतीं उन्हें वर्णन-द्वारा प्रस्तुत करते हैं। रंगमंचीय एकांकी में संवाद और अभिनय—दोनों का समावेश रहता है। रेडियो-एकांकी से चक्षुहीन लाभ उठा सकते हैं और रंगमंचीय एकांकी से बधिर। इसीलिए रेडियो-एकांकी को 'अंधों का सिनेमा' कहा गया है।

हिन्दी-एकांकी का इतिहास

हम अन्यत्र बता चुके हैं कि संस्कृत-परम्परा में एकांकी का अभाव नहीं था। आगे चलकर कई कारणों से उनका विकास नहीं हो सका, पर उनका इतिहास तो है ही और उस इतिहास की अपनी मौलिक विशेषता है। वस्तुतः संस्कृत के ह्रास और भारतेन्दु के आविर्भाव के बीच का समय इतना कोलाहलपूर्ण, अस्त-व्यस्त और असंयत है कि

वह संस्कृत-एकांकी-परम्परा के इतिहास और विकास में बाधक हो गया है। ऐसी दशा में हिन्दी-एकांकी के इतिहास का श्रीगणेश भारतेन्दु-काल से ही माना जाता है। विद्यार्थियों की सुविधा के लिए हम उस समय से अबतक के एकांकी-इतिहास को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) भारतेन्दु-युग—सं० १६३०-१६८४, (२) प्रसाद-युग—सं० १६८५-१६६५ और (३) आधुनिक युग—सं० १६६६—··· यहाँ एकांकी के इतिहास पर इसी क्रम से विचार किया जायगा।

[१] भारतेन्दु-युग में एकांकी—(सं० १६३०-१६८४)—हम अन्यत्र बता चुके हैं कि हिन्दी में भारतेन्दु ही एकांकी के जन्मदाता थे। उन्होंने कई मौलिक एकांकियों की रचना की। उनका पहला एकांकी है—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' इसमें हास्य रस की प्रधानता है। इसके बाद उन्होंने 'प्रेम जोगिनी', 'भारत जननी' 'विषस्य विषमौषधम्' 'भारत दुर्दशा', 'नील देवी' और 'भारत-दुर्दशा' आदि की रचना की। इन रचनाओं-द्वारा भारतेन्दु का एकमात्र उद्देश्य संस्कृत-नाटकों की भिन्न-भिन्न शैलियों को हिन्दी में स्थान देकर अपने समकालीन साहित्यकारों को उनकी ओर आकृष्ट करना था। यही कारण है कि उन्होंने अपने समय के नवीन विषयों के आधार पर एकांकियों की रचना की। 'एकांकी' नाम से वह, उस समय, परिचित ही नहीं थे। उनके सामने नाटकों के तीन आदर्श थे—(१) संस्कृत-नाटकों का आदर्श, (२) अँगरेज़ी-नाटकों का आदर्श और (३) अँगरेज़ी से प्राप्त बँगला-नाटकों का आदर्श। इन्हीं आदर्शों की मिली-जुली शैली के अनुकूल उन्होंने रूपक और उपरूपक लिखे और दूसरों को भी उनकी रचना के लिए प्रेरित किया। उनके समय में 'रूपक' ही 'एकांकी' का पर्यायवाची बना रहा। उदाहरणार्थ: काशीनाथ खत्री ने तीन छोटे-छोटे ऐतिहासिक एकांकी 'सिंध देश की राजकुमारियाँ', 'गुन्नौर की रानी', और 'महाराजा लवजी का स्वप्न'—लिखे और उन्हें 'तीन ऐतिहासिक रूपक' के नाम से प्रकाशित किया। ऐसे रूपक विविध विषयों पर विविध

शैलियों में और भी लिखे गये। श्री निवासदास ने 'प्रह्लाद-चरित' नाम का पौराणिक एकांकी लिखा, बद्रीनारायण 'प्रेमघन' ने 'प्रयाग-रामागमन' नामक पौराणिक एकांकी की रचना की तथा राधाचरण गोस्वामी ने 'भारत में यवन लोग' का ब्रजभाषा से हिंदी में अनुवाद किया और पाँच दृश्यों में 'श्रीदामा', सात दृश्यों में दुखांत 'सती चंद्रावली', पन्द्रह दृश्यों में 'अमरसिंह राठौर' और आठ दृश्यों में एक प्रहसन 'तन, मन, धन श्रीगोसाई जी के अर्पन' लिखा। वह अपने समय के अत्यन्त सफल एकांकीकार थे। उनके अतिरिक्त भरतपुर-नरेश बल्देव सिंह के भतीजे के पुत्र कृष्णदेवशरण सिंह 'गोप' ने 'माधुरी' नामक एकांकी की रचना की और बालकृष्ण भट्ट ने 'प्रदीप' में कई छोटे-छोटे रूपक सामयिक विषयों के आधार पर लिखे जिनमें से 'कलिराज की सभा', 'रेल का विकट खेल', 'बाल-विवाह' आदि प्रमुख हैं। प्रताप नारायण मिश्र का 'कलि कौतुक', शालिग्राम का 'मयूरध्वज' और देवकीनंदन खत्री का ग्रामीण भाषा में 'जयनार सिंह का' आदि रचनाएँ भी इसी काल की हैं। इसी काल में प्रसिद्ध नाटककार राधाकृष्णदास ने भी 'दुखिनी बाला' और 'धर्मालाप' शीर्षक एकांकी लिखे। अम्बिका दत्त व्यास के 'कलियुग और घी' तथा 'मन की उमंग' नाम की दो रचनाएँ भी इसी कोटि की हैं। इनके अतिरिक्त अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' और किशोरीलाल गोस्वामी के 'चौपट चपेट' की गणना भी इसी काल के अन्तर्गत की जा सकती है।

भारतेन्दु-काल की उपर्युक्त रचनाओं में हिन्दी-एकांकी की कोई अपनी प्रणाली, कोई अपनी परम्परा नहीं थी। एकांकी-निर्माण में प्रत्येक लेखक स्वतन्त्र था और वह अपनी विशेष रुचि, प्रतिभा और आवश्यकता के अनुकूल अपने कथानकों को एकांकी का रूप दे देता था। अंक और दृश्य-सम्बन्धी साधारण नियम भी शिथिल थे। कोई अपने कथानक को एक या कई अंकों में विभाजित करता था, कोई एक या कई दृश्यों में। दृश्यों की संख्या भी निश्चित नहीं थी। ऐसा लगता है कि

तत्कालीन लेखक अंक और दृश्य में विशेष अन्तर नहीं मानते थे। ऐसी दशा में हम उस समय के रूपकों में आधुनिक एकाकी-कला का सर्वथा अभाव ही पाते हैं। उनके कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक, सामयिक और कल्पित होते हुए भी अव्यवस्थित, अपरिपक्व और शिथिल हैं। आरम्भ में होता भी ऐसा ही है। वस्तुतः भारतेन्दु-काल हमारे साहित्य के विभिन्न अंगों का शिलान्यास-काल अथवा प्रयोग-काल था। उस समय साहित्यकारों का ध्यान कला की उत्कृष्टता और उसकी परिपक्वता की अपेक्षा साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्त्ति एवं उनके प्रचार और प्रसार की ओर अधिक था। इसीलिए उस समय का समस्त साहित्य एक प्रकार से प्रचारात्मक साहित्य था। उसमें शक्ति नहीं थी, उसमें कला नहीं थी, पर उसमें साहित्य के अंगों के बीज अवश्य थे और वही बीज आज वृक्ष के रूप में हमारे सामने लहलहा रहे हैं। इस दृष्टि से भारतेन्दु-काल के रूपक आधुनिक एकांकियों के पूर्वज हैं।

[२] प्रसाद-युग में एकांकी—(सं० १६८५-१६६४) भारतेन्दु-युग समाप्त होने के पश्चात् द्विवेदी-युग का प्रादुर्भाव हुआ। इस युग में एकांकी को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। इसके बाद आया प्रसाद-युग। इस युग के प्रवर्तक थे जयशंकर प्रसाद। एकांकी-साहित्य के प्रसार में उनसे बड़ी सहायता मिली। भारतेन्दु-युग पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का, प्रचार का, 'अपनी-अपनी डफली अपना-अपना राग' का युग था। प्रसादजी ने इन सब का अन्त करके एकांकी-साहित्य को स्थिर और कलात्मक रूप प्रदान किया। उनके समय में बँगला के नाटककार द्विजेन्द्र-लाल राय के प्रायः सभी नाटक और रवि बाबू के प्रमुख नाटक—डाक-घर, राजा-रानी, चित्रागदा, कर्णकुन्ती आदि हिन्दी में अनूदित हो चुके थे। इन अनूदित रचनाओं का प्रसादजी पर विशेष प्रभाव पड़ा। रवि बाबू की संवाद-कला से वह अधिक प्रभावित हुए जिसके फलस्वरूप सं० १६८६ में उनका 'एक घूँट' प्रकाशित हुआ। यह उनका प्रथम

संवाद-प्रधान एकांकी था। इसमें उन्होंने एकांकी की वर्तमान टेकनीक का अधिकांश निर्वाह किया था। इस एकांकी की देखा-देखी हिन्दी में कई और एकांकी लिखे गये। तत्कालीन मासिक पत्रों में गोविन्द वल्लभ पन्त तथा श्री सुदर्शन के कई एकांकी प्रकाशित हुए। सं० १९९२ में भुवनेश्वर का 'कारवाँ' निकला और इसी के आस-पास डा० रामकुमार वर्मा का एकांकी-संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' प्रकाश में आया। इनके अतिरिक्त और भी कई साहित्यकारों ने एकांकी की रचना की। सत्येन्द्र का 'कुनाल' सं० १९९४ में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार ८-९ वर्ष के भीतर कई प्रकार के एकांकियों की रचना हुई। इन एकांकियों पर यदि टेकनीक की दृष्टि से विचार किया जाय तो उस समय तीन प्रकार के एकांकीकार मिलते हैं :—

(१) **बँगला से प्रभावित एकांकीकार**—इस वर्ग के एकांकीकार मैटरलिंक से प्रभावित बँगला की टेकनीक से प्रेरणा ग्रहण करके एकांकी की रचना करते थे। उनके एकांकियों में संकलन-त्रय—समय, स्थान और कार्य—के निर्वाह की भरपूर चेष्टा रहती थी। किन्तु इसके साथ ही उनके कथानक, उनके चरित्र-चित्रण और उनके कथोपकथन अपने होते थे।

(२) **अँगरेजी से प्रभावित एकांकीकार**—इस वर्ग के एकांकीकार एकांकी-रचना के लिए अँगरेजी-एकांकियों की टेकनीक से प्रेरणा ग्रहण करते थे और उनके कथानक, उनके चरित्र-चित्रण और उनके कथोपकथन की टेकनीक पाश्चात्य टेकनीक की अनुकरण-मात्र होती थी।

(३) **स्वतंत्र एकांकीकार**—इस वर्ग के एकांकीकार न तो बँगला से ही प्रेरणा ग्रहण करते थे और न अँगरेजी से ही। वे एकांकी की आत्मा और उसकी टेकनीक से अच्छी तरह अवश्य परिचित थे, पर उस पर वे अपनी मौलिकता और नवीनतम सूझ का पुट चढ़ाकर उसे एक नये रूप में रखने का प्रयत्न कर रहे थे।'

इस प्रकार प्रसाद-युग के एकांकी भारतेन्दु-काल के एकांकियों की अपेक्षा कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन तथा भाषा आदि की दृष्टि से अधिक संयत, परिमार्जित और कलापूर्ण सिद्ध हुए।

[३] आधुनिक युग की एकांकी—(सं० १९९५—···)—हिन्दी-एकांकी-साहित्य में भुवनेश्वर के 'कारवाँ' ने एक नये परिवर्तन की सूचना दी। उनकी इस रचना पर पश्चिम का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। इससे हिन्दी में पाश्चात्य एकांकी-कला का अच्छा प्रचार हुआ। लाहौर के चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इस अभिनव-कला के विरोधी थे। वह नाट्य-साहित्य में एकांकी का पृथक् अस्तित्व मानने को तैयार नहीं थे। अतः इस प्रश्न को लेकर हिन्दी में बहुत वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ। इस वाद-विवाद से एकांकी-कला को विशेष प्रोत्साहन मिला जिसके फल-स्वरूप सं० १९९५ में 'हंस' का 'एकांकी नाटक' अंक प्रकाशित हुआ। इस अंक में मौलिक एकांकियों को ही नहीं, अनूदित एकांकियों को भी स्थान दिया गया। इससे हिन्दी के कतिपय श्रेष्ठ एकांकीकार सामने आये जिन्होंने एकांकी के इतिहास में आधुनिक युग का सूत्रपात किया। सं० १९९७-९८ के पश्चात् महायुद्ध समाप्त होने पर तो एकांकी-रचना की धूम मच गयी। इसी अवसर पर आल इंडिया रेडियो के स्टेशनों पर एकांकी की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस आवश्यकता ने नये एकांकी-कारों को जन्म दिया। उन्होंने रेडियो के लिए संवाद-प्रधान एकांकी लिखकर एक अभिनव एकांकी-कला की सृष्टि की। उसी समय रेडियो फीचर—रेडियो रूपक—भी लिखे गये। इस प्रकार सं० १९९९ से सं० २००१ तक का समय हिन्दी-एकांकी के विकास और इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। आधुनिक युग के अन्तर्गत हम इस समय को एकांकी का प्रथम उत्थान काल कह सकते हैं।

एकांकी का द्वितीय उत्थान काल सं० २००२ से आरम्भ होता है। यही वर्तमान एकांकी-काल है। इस काल में एकांकी-कला ने स्थायी रूप धारण कर लिया है और उसका प्रचार बढ़ रहा है। मनोवैज्ञानिक,

सामाजिक, राजनीतिक, प्रचारात्मक, छाया-नाटक, गीति-नाटक, भाव-नाटक, नृत्य-नाटक, ध्वनि-नाटक तथा रेडियो-रूपक आदि लिखे जा रहे हैं। डा० रामकुमार वर्मा, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण प्रेमी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सुदर्शन, शंभूदयाल सक्सेना, गरोशप्रसाद द्विवेदी, जे० पी० श्रीवास्तव, बेचन शर्मा 'उग्र' सद्गुरुशरण अवस्थी, वात्स्यायन, जगदीशप्रसाद माथुर, धर्मप्रकाश 'आनन्द', भगवतीचरण वर्मा, कमलाकान्त वर्मा, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय आदि इस काल के प्रमुख एकांकीकार हैं जिनकी रचनाएँ हिन्दी-एकांकी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में एकांकी की रूप-रेखा तथा उसके इतिहास के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं उनसे यह

प्राचीन और नवीन एकांकी

स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक एकांकी प्राचीन एकांकियों से सर्वथा भिन्न हैं। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम देखेंगे कि :—

(१) प्राचीन एकांकी, विशेषतः भारतेन्दु-कालीन एकांकी नाटक के लघु संस्करण मात्र होते थे। उनमें घटनाओं की जटिलता वैसी ही रहती थी जैसी नाटकों में। आधुनिक एकांकी में घटनाओं की जटिलता का अभाव रहता है। उसमें जीवन की कोई भी घटना कथानक के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है।

(२) प्राचीन एकांकी का विषय-निर्वाचन-क्षेत्र संकुचित और सीमित था। उसमें पौराणिक कथाओं का ही मुख्यतः अंकन होता था। आधुनिक एकांकी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से अपनी सामग्री एकत्र करने में स्वतंत्र है। उसका विषय-निर्वाचन-क्षेत्र जीवन का वाह्य रूप ही नहीं, मानव-हृदय और मस्तिष्क भी है। वह जीवन के अधिक निकट है। 'यथार्थता, मनोवैज्ञानिक सत्य और अन्तर्द्वन्द्व का उसमें पूरा समावेश है।'

(३) प्राचीन एकांकी का उद्देश्य था थोड़े समय में अधिक-से-अधिक लोगों का मनोरंजन और उस मनोरंजन-द्वारा किसी सुधार की

योजना का प्रचार। आधुनिक एकांकी साहित्य के एक विशिष्ट अंग का पोषक और जीवन के विकास में सहायक होता है।

(४) प्राचीन एकांकी की अपनी कोई कला नहीं थी। उसमें न तो रंग-संकेत होते थे और न अंकों तथा दृश्यों के निश्चित नियम। आवश्यकतानुसार उसकी रचना में स्वगत, नान्दी, मंगलाचरण, प्रस्तावना आदि का भी विधान रहता था। आधुनिक एकांकी की अपनी कला है, अपने नियम हैं। उसमें नियमों की जटिलता नहीं है। उसमें पर्याप्त रंग-संकेत भी रहते हैं।

(५) प्राचीन एकांकी आदर्शवादी होते थे। उसमें रस-परिपाक पर विशेष महत्त्व दिया जाता था। इसलिए उसमें पात्रों के चरित्र-विकास के लिए विशेष स्थान नहीं था। आधुनिक एकांकी पात्रों के चरित्र-विकास पर अधिक बल देता है। अतएव उसका सम्बन्ध जीवन के यथार्थ अनुभव से अधिक रहता है। जीवन की प्रत्येक समस्या के बीच मानव-हृदय और मस्तिष्क में जैसी प्रतिक्रियाएँ होती हैं—उन्हीं का सफल अंकन उसका एकमात्र लक्ष्य होता है।

(६) प्राचीन एकांकी प्रायः वेग-शून्य होता था। उसमें भावों की तीव्रता और तड़पन नहीं होती थी और वह चरमोत्कर्ष के पश्चात् भी आगे बढ़ता रहता था। आधुनिक एकांकी में भावनाओं का वेग ही महत्त्वपूर्ण होता है। उसकी घटना बिजली की भाँति कौंधती हुई क्षिप्रगति से आगे बढ़ती है और चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर दर्शकों को चकाचौंध कर देती है।

(७) प्राचीन एकांकी में पात्रों का जमघट-सा रहता था। आधुनिक एकांकी में पात्रों का निर्वाचन बड़ी समझ-बूझ से किया जाता है। उसमें पात्रों का कम-से-कम उपयोग किया जाता है। पात्र किसी भी वर्ग के हो सकते हैं।

(८) प्राचीन एकांकी के कथोपकथन प्रायः लम्बे, उपदेशात्मक, और वेग-शून्य होते थे। आधुनिक एकांकी में कथोपकथन वेगपूर्ण,

व्यंजक, चुटीले और मार्मिक होता है। उसमें विचारों की गहनता और भावों की गंभीरता रहती है।

(९) प्राचीन एकांकी में संगीतात्मक पदों तथा नृत्य आदि का आयोजन रहता था। आधुनिक एकांकी में इस प्रकार का विधान प्रायः नहीं रहता, केवल कार्य और संवाद का वेग ही दर्शकों के आकर्षण के लिए अपेक्षित समझा जाता है।

(१०) प्राचीन एकांकी का रंगमंच अधिक शृंगारिक होता था और दृश्य-परिवर्तन आदि के लिए अधिक सामग्री जुटानी पड़ती थी। आधुनिक एकांकी का रंगमंच साधारण होता है। उसके लिए विशेष कौशल की आवश्यकता नहीं होती।

अबतक हिन्दी-एकांकी की जो मीमांसा प्रस्तुत की गयी है उससे उसकी अन्तर्धारा का सामान्य परिचय मिल जाता है।

हिन्दी-एकांकी की प्रवृत्तियाँ

विशेष रूप से उसका अध्ययन करने के लिए हमें उन 'वादों' पर विचार करना होगा जो आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों को अनुप्राणित और प्रभावित करते रहे हैं। 'वाद' एक प्रकार की विशिष्ट चिन्तन-प्रणाली है। प्रत्येक लेखक की अपनी रुचि, अपनी सूझ-बूझ और जीवन तथा जगत् के प्रति अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण होता है। इस दृष्टिकोण को व्यक्त करने की उसकी अपनी शैली होती है। उसके इस प्रकार के तत्व-चिन्तन एवं प्रकाशन में जब विशिष्टता आ जाती है, जब वह स्वतंत्र रूप से जीवन और जगत् की जटिलताओं एवं गुत्थियों को सुलझाने लगता है और उन्हें अपनी कला के माध्यम से व्यक्त करने लगता है तब उसका स्थान अन्य साहित्यकारों से पृथक् हो जाता है और वह एक स्वतंत्र चिन्तक के रूप में स्वीकार किया जाने लगता है। उस समय उसके चिन्तन के सिद्धान्तों को दार्शनिक महत्त्व प्राप्त हो जाता है और हम उन्हें उन्हीं के अनुरूप किसी 'वाद' के नाम से प्रतिष्ठापित कर देते हैं। हिन्दी-नाट्य-साहित्य, विशेषतः हिन्दी-एकांकी, में इस प्रकार के कई 'वाद' मिलते हैं।

एकांकीकार अपनी-अपनी रचनाओं में इन 'वादों' का समावेश अपनी-अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार करते हैं। कुछ उनमें से किसी एक के अन्ध भक्त हो जाते हैं, कुछ उसमें आंशिक परिवर्तन करके उसे स्वीकार कर लेते हैं और कुछ केवल अपनी कला की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे अपना लेते हैं। इस प्रकार प्रत्येक एकांकीकार किसी-न-किसी रूप में उसे अपनाता अवश्य है। यदि वह अपने को किसी 'वाद' से प्रभावित न भी माने तो मानव-प्रवृत्तियों से बचकर वह कहाँ जायगा! वे तो रहेंगी ही और उन्हीं के आधार पर आलोचक उसकी रचना को किसी-न-किसी 'वाद' के अन्तर्गत रख देगा। हिन्दी-नाट्य-साहित्य में जबसे एकांकी का अभ्युदय हुआ है तब से उसमें कई 'वादों' को स्थान मिला है जिनमें से मुख्य हैं—**आदर्शवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद, कलावाद, अभिव्यंजनावाद तथा प्रभाववाद**। इन्हीं 'वादों' पर यहाँ विचार किया जायगा :—

[१] एकांकी में आदर्शवादी प्रवृत्ति—आदर्शवाद भारतीय साहित्य का मूलमंत्र रहा है। प्राचीन काल से हम आदर्श के उपासक रहे हैं और हमारे साहित्यकारों ने स्थूल-से-स्थूल तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आदर्शों की कल्पना की है और उन्हें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए अनुकरणीय बनाया है। उन्होंने अपने इस आदर्शवाद को दो रूपों में स्वीकार किया है—**(१) वीर-पूजा के भाव से प्रेरित आदर्शवाद और (२) पूर्णता की कल्पना से प्रेरित आदर्शवाद**। वीर पूजा से प्रेरित आदर्शवाद के विधान में किसी पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा कल्पित पात्र का चरित्र-चित्रण रहता है और उसके किसी एक गुण का चरमोत्कर्ष दिखाया जाता है। सेठ गोविन्ददास के अधिकांश एकांकी इसी आदर्श प्रवृत्ति के द्योतक हैं। हरिकृष्ण प्रेमी के एकांकियों में यह बात नहीं है। उनकी रचनाओं में पूर्णता की कल्पना से प्रेरित आदर्शवाद मिलता है। इस प्रकार का आदर्श समाज अथवा जीवन की विविध समस्याओं के लिए प्रस्तुत

किया जाता है और इसमें मनुष्यों की उदार वृत्तियों को उत्तेजित, अनुप्राणित, संतुलित एवं आमंत्रित करने की शक्ति होती है। प्रभाव के अनुसार ऐसे एकांकियों की दो श्रेणियाँ हो सकती हैं—एक तो वे जिनमें केवल मानव-प्रवृत्तियों को उभारने का सरल आग्रह रहता है और दूसरी वे जिनमें मानव-प्रवृत्तियों को उभारने के साथ-साथ उनके आह्वान का भाव भी रहता है।

[२] एकांकी में यथार्थवादी प्रवृत्ति—आदर्शवादी प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में यथार्थवाद का जन्म हुआ है। इस वाद के समर्थकों का कहना है कि आदर्शवाद कल्पना-जन्य है। इस कारण मानव-जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से वह कोसों दूर रहता है। इसमें वास्तविकता की उपेक्षा की जाती है और वह मानव को क्रियाशील न बनाकर भावुक बना देता है। इससे उसकी विचार-शक्ति नष्ट हो जाती है और वह एक बंधे-बंधाये मार्ग पर चलता है। जीवन में जो उलट-फेर होते रहते हैं उनका सामना करने की उसमें शक्ति नहीं होती। वह पलायनवादी हो जाता है और जीवन की संघर्षमय परिस्थितियों में वह या तो नियति का विगत का पूजक हो जाता है या विकास का विरोधी। कला को भी उससे स्फूर्ति और चेतना नहीं मिलती। यथार्थवादी कलाकारों के इन आक्षेपों में अधिकांश सत्यता है और उसी सत्यता के बल पर यथार्थवाद का प्रवर्त्तन हुआ है। यथार्थवाद जीवन के मौलिक एवं विकृत रूप को यथातथ्य घटनाओं से निकालकर रंगमंच पर रख देने के पक्ष में है। इसमें न तो कला को स्थान है और न जीवन के आध्यात्मिक पक्ष का समावेश। इस वाद के समर्थकों को संसार में सर्वत्र दुर्बलताएँ और विफलताएँ ही दीख पड़ती हैं। उनकी आँखों के सामने जीवन के ऐसे ही चित्र आते हैं जो मानव-समाज के विनाश और संहार के कारण हैं। उन्हें जीवन में चारों ओर निराशा-ही-निराशा दिखायी देती है। मैक्सिम गोर्की ने अपने नाटकों में जीवन के ऐसे ही चित्रों को स्थान दिया है। उन्होंने समाज के निम्न स्तरों से सामग्री लेकर अपने नाटकों में गतिशील

बनाया है। हिन्दी-एकांकी पर उनकी इस विचार-धारा का विशेष प्रभाव पड़ा है। गणेशप्रसाद का 'सुहाग बिन्दी' इसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें विशुद्ध यथार्थवाद पाया जाता है। **तटस्थता-मूलक यथार्थवाद** इससे कुछ भिन्न होता है। इसमें नाटककार निराशा का आवरण हटाकर जीवन के चित्रों को तटस्थ दृष्टि से देखता है। उदयशंकर भट्ट के एकांकियों में इसी प्रकार की यथार्थवादी प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति में जब कार्य-कारण की परंपरा का भी उद्घाटन किया जाता है तब एक तीसरे प्रकार के यथार्थवाद की सृष्टि होती है जिसे हम **मनोविश्लेषणात्मक यथार्थवाद** कह सकते हैं। भुवनेश्वर इसी प्रकार के यथार्थवादी कलाकार हैं। **अति यथार्थवाद** के समर्थक अधिकांश फूहड़ होते हैं। उनमें न तो संकोच होता है और न किसी प्रकार की हिचक। वे जीवन का नग्न चित्र बिना उसके कार्य-कारण की परंपरा पर विचार किये ही प्रस्तुत करते हैं। उनकी ऐसी रचनाओं से जीवन को शक्ति नहीं मिलती, प्रत्युत जीवन का ह्रास होता है। **बुद्धिवादी यथार्थवाद** इससे सर्वथा भिन्न होता है। इसमें कलाकार सामाजिक मर्यादा और शील का ध्यान रखते हुए सामाजिक रूढ़ियों का अनावरण करता है और उसे कलात्मक रूप में हमारे सामने प्रस्तुत करता है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के अधिकांश एकांकी इसी वर्ग में आते हैं।

[३] **एकांकी में प्रगतिवादी प्रवृत्तियाँ**—यथार्थवादी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त आधुनिक एकांकियों में प्रगतिवादी प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। प्रगतिवाद का सीधा संबंध मार्क्सवाद से है। मार्क्स ने अपने राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और साहित्यिक विचारों से विश्व के साहित्यकारों को विशेष रूप से प्रभावित किया है। उनका प्रगतिवाद पूँजीवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हमारे सामने आया है। उन्होंने धर्म, इतिहास, संस्कृति, युद्ध आदि के मूल में 'अर्थ' को ही बैठा हुआ पाया है। उनके मत के अनुसार समस्त संसार शोषक-शोषित, शासक-शासित, धनी-गरीब, मालिक-मजदूर—इन्हीं दो प्रधान वर्गों में विभाजित है और इसका

मुख्य कारण है व्यक्तिगत पूँजी। व्यक्तिगत पूँजी का विनाश करके वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना मार्क्सवाद का अन्तिम लक्ष्य है। मार्क्स ने विश्व के मूल में किसी चेतन-सत्ता, विचार अथवा आत्मा को स्वीकार नहीं किया है। इनके स्थान पर उसने पदार्थ की सत्ता स्वीकार की है। इस प्रकार मार्क्स का दर्शन भौतिकवाद का दर्शन है और वह अध्यात्मवाद का प्रत्यक्ष विरोधी है। यथार्थवाद भी अध्यात्मवाद का विरोधी है। प्रगतिवाद और यथार्थवाद दोनों भौतिकवाद से प्रभावित हैं। अन्तर केवल इतना है कि यथार्थवाद किसी उद्देश्य को प्रश्रय नहीं देता, वह जो है उसे प्रकट करके रह जाता है। प्रगतिवाद उद्देश्य को प्रश्रय देता है और इसके साथ ही जो है उसे प्रकट भी करता है। यथार्थवाद में वस्तु का यथार्थ है और प्रगतिवाद में वस्तु के यथार्थ के साथ-साथ उद्देश्य का यथार्थ भी है। मानव-जीवन का वास्तविक संघर्ष ही प्रगतिवादी साहित्य का मूलाधार है और इस संघर्ष का कारण है आर्थिक विषमता। जन-क्रान्ति-द्वारा इस प्रकार के वैषम्य को दूर करना ही प्रगतिवादी साहित्य का लक्ष्य है। इस रूसी-विचार-धारा का हिन्दी साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है। हम यहाँ इस प्रकार के साहित्य की विवेचना नहीं करेंगे, पर इस संबन्ध में इतना अवश्य कहेंगे कि प्रगतिशीलता के नाम पर आज जिस प्रकार के साहित्य की सृष्टि हो रही है उसमें न तो किसी प्रकार का आकर्षण है और न जीवन को उन्नत रूप देनेवाली सामग्री। रंगमंच के लिए तो वह और भी अनुपयुक्त है। प्रगतिशील लेखकों की दृष्टि अधिकांश जीवन की कुरूपता की ओर रहती है। प्रकृति अथवा जीवन के मंगलमय रूप की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं उठती। साहित्य के पुनीत क्षेत्र में वे प्रतिहिंसा की भावना लेकर उतरते हैं और उसी का प्रचार करते हैं। प्रतिहिंसा में जीवन का सौंदर्य नहीं, जीवन का विकृत रूप ही रहता है। इसलिए ऐसा साहित्य मानव-जाति के लिए कभी भी कल्याणकारी नहीं हो सकता। कल्याणकारी तो वह तभी होगा जब उसमें सत्यं-शिवं-सुन्दरं की स्थापना होगी।

[४] कलावादी प्रवृत्तियाँ—आजकल हिन्दी-साहित्य में चतुर्दिक् कला की माँग है और प्रत्येक रचना उसकी कसौटी पर कसी जा रही है। कला के संबंध में पाश्चात्य आचार्यों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं और उन सिद्धान्तों के अनुसार उन्होंने अपनी-अपनी कसौटियाँ बना रखी हैं। कुछ कला-पारखी यथार्थ के मानसिक चित्रण को ही कला मानते हैं। उनका विश्वास उपयोगतावादी कला में है। वे कला-निर्माण में आचार का महत्त्व स्वीकार करते हैं। इसके विरुद्ध कला-पारखियों का एक ऐसा सम्प्रदाय भी है जो कला को कल्पना-प्रसूत मानता है। इस सम्प्रदाय के विद्वानों का कहना है कि वास्तविक जगत् में सभ्यता और समाज-व्यवस्था के कारण हमारी जो इच्छाएँ दबी रहती हैं वे ही कल्पना में आती हैं और कल्पना-द्वारा कला में व्यक्त होती हैं। इस सम्प्रदाय के जनक हैं आचार्य फ्रूड। उनका कहना है कि 'स्वप्न में मनुष्य की कल्पना और भावना उन दिशाओं में जाती है जिन दिशाओं में वे समाज की सृष्टि के सामने नहीं जा पातीं'। फ्रूड के इन स्वप्न-सिद्धान्तों को कुछ लेखक साहित्य में भी चरितार्थ करते हैं। उनके मतानुसार जिस मनोभाव का नैतिक दृष्टि से बहिष्कार होता है और जो सामाजिक दृष्टि से निन्दनीय है वही मनोभाव कला के रूप में प्रकट होकर सबको मान्य हो जाता है। इस प्रकार संसार की असुन्दरता को छिपाने का नाम कला है। आचार्य फ्रूड कला की रचनाओं के पीछे काम-भावना ही पाते हैं और यही पाश्चात्य मनोविश्लेषण विज्ञान की सृष्टि है। यहाँ इस सिद्धान्त की आलोचना करना अभीष्ट नहीं है, पर हमें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि फ्रूड महोदय के इस अनोखे सिद्धांत ने कला की सीमा से आचार का बहिष्कार करके मानव-जाति का कल्याण करने की अपेक्षा अधिकांश अहित ही किया है। पाश्चात्य विद्वानों का एक वर्ग और है जो यथार्थवाद के नाम पर बहुत कुछ इसी प्रकार की बातें करता है। उसका कहना है कि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ आहार, निद्रा आदि शरीर-जन्य हैं और उसकी अन्य उदात्त वृत्तियाँ मौलिक न होकर

सभ्यता की आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र हैं। एक और वर्ग है जो "कला के लिए कला का' सिद्धान्त उपस्थित करता है और आचार को कला के बाहर की वस्तु बताता है। पाश्चात्य विद्वानों के इन मतों से हम सहमत नहीं हैं। उनकी कला की प्रवृत्ति कुछ वाह्य जगत् से मात्र प्रेरणा को ही रूप देने की रही है, किन्तु यह प्रवृत्ति कला को जन्म नहीं दे सकती। अपने विश्वास के अनुसार हम संसार में व्यापक सौंदर्य को व्यक्त करने के कौशल को कला की संज्ञा देते हैं। वास्तव में कला तभी सत्य होती है 'जब वह जीवन और अनुभव के निकट रहकर उसकी अभिव्यंजना के लिए सौंदर्य का माध्यम स्वीकार करती है।' जन-जीवन से जितनी दूर कला होती है उतनी ही वह असत्य और अप्रिय होती है। सत्य-कला जीवन का यथावत् चित्रण करती है। इस संबंध में आचार्य कारलायल का मत हमें मान्य है। उनका कहना है कि दोष किसी पदार्थ में न होकर हमारी दृष्टि में है। हमारे नीच भाव जब किसी पदार्थ पर आरोपित हो जाते हैं तब हम उसे बुरा समझने लगते हैं। कलाकार अपनी कृति-द्वारा हमारे अज्ञात दूषित भावों को परिष्कृत करने की चेष्टा करता है। इन भावों के शुद्ध हो जाने से जहाँ हम घृणास्पद वस्तु देखते थे वहाँ हमें सुन्दर वस्तु दिखायी देने लगती है। इस प्रकार कलाकार संसार की मौलिक सेवा करता है। आचार्य कारलायल के इन शब्दों में हिन्दी-कलाकारों के लिए एक चेतावनी, एक संदेश है। पाश्चात्य विद्वानों के कला-संबंधी भ्रमात्मक सिद्धान्तों के आधार पर इधर जो एकांकी लिखे गये हैं अथवा लिखे जा रहे हैं उनसे हमारे जीवन की भूख तृप्त नहीं होगी। हमारे लिए ही नहीं, मानव-जीवन के लिए वही कला अभिनंदनीय होगी जो मन को सुखी, स्वस्थ और सुन्दर बनाने का एक साधन है।

[४] **अभिव्यंजनावादी प्रवृत्तियाँ**—हिन्दी एकांकी की वस्तु, शैली और रूप पर जिन पाश्चात्य 'वादों' का प्रभाव पड़ा है उनमें अभिव्यंजनावाद का भी प्रमुख स्थान है। अभिव्यंजनावाद कलावाद का ही शैलीगत

पक्ष है। अभिव्यंजना का साधारण अर्थ है—मनोभावों को व्यक्त करने की शक्ति। पाश्चात्य कलाविद लेसिंग के मतानुसार यही कला का लक्ष्य है और उसका अनिवार्य गुण है सौंदर्य। सौंदर्यहीन अभिव्यंजना श्रेष्ठ अभिव्यंजना नहीं होती। लेसिंग के इस कलागत सौंदर्य-सिद्धान्त को क्रोचे ने और भी स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि मानव-मन पर दृश्य जगत् की नाना वस्तुओं की जो छाया पड़ती है उसी को नया बिंब प्रदान कर अभिव्यंजित करना कला का लक्ष्य है। उनकी दृष्टि में *दृश्य जगत की कोई सत्ता नहीं है। मन* की एक प्रतिक्रिया दृश्य जगत् को स्वरूप देती है और उसी की एक दूसरी प्रतिक्रिया उसका कलात्मक आकलन करती है। उनके मत से समस्त कला एक ही अखंड अभिव्यंजना है। खंड काव्य, महाकाव्य, उपन्यास, नाटक आदि ऊपरी विभाजन हैं, मौलिक नहीं। वह मानसिक क्रिया, जो कलाओं को जन्म देती है, सर्वत्र और सब काल में एक है। नाटक की वस्तु, उसके विधान, उसकी शैली और उसके रूप में जब इस प्रकार की मानसिक क्रिया का प्रतिफलन सौंदर्य के माध्यम्-द्वारा उद्‌घाटित होता है तब उस नाटक में *हम अभिव्यंजनावाद का ही स्पर्श पाते हैं। रामकुमार वर्मा का* 'अंधकार' शीर्षक एकांकी इसी कोटि का है। हिन्दी में अभी इस प्रकार के नाटक कम लिखे गये हैं।

[६] प्रभाववादी प्रवृत्तियाँ—कला के कई 'वादों' में प्रभाववाद का भी स्थान है। प्रभाववाद के अनुसार कला के लिए जीवन के किसी क्षण में जो उसका रूप उदय होता है उसका सृजन करना ही परम श्रेय है। क्षणिक, किन्तु सत्य 'प्रभाव' का मूर्त्त-माध्यमों-द्वारा उद्‌घाटन करना *कला का लक्ष्य है। जब हम मानव-आकृति अथवा प्रकृति के किसी भी* क्षेत्र में किसी वस्तु के स्थिर रूप का दर्शन करके उसके क्षणिक रूप को ग्रहण करते हैं तब प्रभाववादी प्रवृत्तियों का उदय होता है। इस प्रकार की प्रवृत्तियों में वस्तु का सौंदर्य उसके प्रभाव में निहित रहता है। उनमें अर्थ की व्यंजकता नहीं, प्रभाव की अभिव्यक्ति रहती है। अर्थ में बुद्धि-तत्त्व

की प्रधानता रहती है और प्रभाव में बुद्धि-तत्त्व का अभाव। किसी पुष्प पर जब हमारी सहसा दृष्टि पड़ती है तब हम उसके स्थिर रूप की विवेचना न करके उसके क्षणिक रूप से ही पुलकित हो उठते हैं। हमारी उस समय की पुलकन में बुद्धि की अपेक्षा सहज आकर्षण का सबल आग्रह ही रहता है। यही आकर्षण प्रभाववाद का मूलमंत्र है। प्रभाववादी कला के तन्तु न तो प्रतीक होते हैं, न अपने से परे की कोई सूचना देते हैं और न किसी रहस्य का उद्घाटन करते हैं। हिन्दी-एकांकी में अभी इस कला का प्रयोग कम हुआ है।

हिन्दी-एकांकी की जिन नवीनतम् प्रवृत्तियों की संक्षिप्त विवेचना उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत की गयी है उससे स्पष्ट है कि हमारे एकांकीकार अधिकांश यथार्थवाद और प्रगतिवाद के विविध रूपों से प्रभावित हैं। रामकुमार वर्मा के एकांकियों में कलावाद और अभिव्यंजनावाद का अधिक पुट अवश्य दिखायी देता है। इन दोनों क्षेत्रों में हरिकृष्ण प्रेमी तथा उदयशंकर भट्ट के प्रयत्न भी प्रशंसनीय हैं। ऐसे एकांकियों के लिए अभी अपना रंगमच नहीं है, इसलिए लौकिक दृष्टि से हिन्दी-प्रेमियों के बीच उनका जैसा प्रचार होना चाहिए वैसा नहीं हो रहा है। फिर भी उनका भविष्य उज्ज्वल है और हमारा विश्वास है कि भविष्य में हमें ऐसे एकांकी देखने को मिलेंगे जो कला की दृष्टि से स्वस्थ और जीवन के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे।

एकांकी का भविष्य

अबतक एकांकी के संबंध में जो कुछ कहा गया है उससे उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल प्रतीत होता है। थोड़े ही दिनों में अपने कला की विशिष्टता और विषय की रोचकता के कारण आधुनिक साहित्य तथा लोक-जीवन में उसने अपना जो स्थान बना लिया है और जिस द्रुतिगति से उसका निर्माण हो रहा है वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हमारे साहित्य से नाटकों का युग धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। वैज्ञानिक अन्वेषणों तथा शिक्षा के प्रसार ने हमारे जीवन में इतनी व्यस्तता

और उसकी अन्तर्धारा में इतना द्वन्द्व उपस्थित कर दिया है कि हम एकांकी की उपेक्षा कर ही नहीं सकते। एकांकी हमारे जीवन के अधिक समीप और अनुकूल है। हमारे मनोगत भावों और विचारों का सफलता-पूर्वक चित्र उतारने के कारण वह हमारी मानसिक क्षुधा को जितनी शीघ्रता से तृप्त करने में सहायक होता है उतना अन्य किसी साधन से नहीं हो पाता। आज का युग विचार का युग है; ज्ञान-विज्ञान का युग है, साहित्य को जीवन के अधिक-से-अधिक सम्पर्क में लाने का युग है। साहित्य का प्रत्येक अंग विश्व-व्यापी जीवन की समस्याओं से प्रभावित है। इसलिए साहित्य में सर्वत्र नये प्रयोग हो रहे हैं। एकांकी भी उन्हीं प्रयोगों का फल है। उसका उद्देश्य दर्शकों का मनोरंजन-मात्र ही नहीं, साहित्य के एक अंग की पुष्टि करना भी है। भविष्य में उसका क्या रूप होगा—यह तो अभी सहसा नहीं कहा जा सकता, पर २०-२५ वर्षों के लगातार प्रयत्न के पश्चात् आज हम जिस रूप में एकांकी को देख रहे हैं वह अत्यन्त भव्य और सुरुचिपूर्ण है। उसका प्रचार बराबर बढ़ रहा है। स्कूल और कालेजों के वार्षिक उत्सवों पर ही अब उसका अभिनय नहीं होता, कस्बों और गाँवों में भी उसका प्रचार हो गया है। राजनीतिक और सामाजिक समितियाँ उसे अपने प्रचार का साधन बना रही हैं। इस प्रकार वह हमारे जीवन के इतने निकट आता जा रहा है कि हम उसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकते।

: ७ :

नाट्य-साहित्य में प्रहसन का स्थान

नाटक में हास के रूप

नाटक में हास्य रस का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वस्थ, संयत और शिष्ट हास्य से दर्शकों को जो स्फूर्ति और प्रेरणा मिलती है वह कल्पनातीत है। इसीलिए प्राचीनकाल से ही नाटकों में उसका उपयोग किया जा रहा है। उस काल से आजतक उसका जो साहित्य हमें मिलता है उसमें उसके दो रूप मिलते हैं—(१) आधिकारिक कथा-वस्तु के रूप में, (२) प्रासंगिक कथा-वस्तु के रूप में। यहाँ हम इन्हीं दोनों शैलियों पर विचार करेंगे :—

(१) **आधिकारिक कथा-वस्तु के रूप में हास**—संस्कृत-नाट्य परंपरा के अन्तर्गत विदूषक हास्य का एकमात्र प्रतिनिधि माना जाता था। उसके व्यक्तित्व में हास्य के सभी उपकरण समाहित रहते थे। नाटक में उसका प्रधान कार्य होता था—सामाजिकों का मनोरंजन करना। वह नायक का अंतरंग होता था और उसके साथ प्रत्येक अंक में उपस्थित रहता था। उसकी वेश-भूषा विचित्र और हास्योत्पादक होती थी। लालची और पेटू तो वह प्रत्येक अवसर पर दिखाया जाता था। वीरता के समय वह कायरता का ही प्रदर्शन करता था। झगड़ा लगाने में वह अत्यन्त कुशल होता था। नायक का अंतरंग होने के कारण वह उच्च कुल का ब्राह्मण, चपल, विद्वान् और प्रत्येक जटिल प्रश्न का तत्काल उत्तर देने में समर्थ होता था। नाटक की आधिकारिक कथा-वस्तु के साथ ही उसका विशेष संबंध रहता था। 'रत्नावली' में वसंतक और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में माढव्य इसी प्रकार के विदूषक हैं। हिन्दी में इस परंपरा का पालन भारतेन्दु-युग में मिलता है।

प्रसाद-युग में इस परंपरा के दो रूप मिलते हैं :—(१) नायक से संबद्ध विदूषक और (२) नायक से तटस्थ विदूषक। जिन नाटकों में विदूषक नायक के साथ संचरण करते हैं उनमें प्रसादजी के 'स्कन्द-गुप्त' का प्रमुख स्थान है। 'अजातशत्रु' में विदूषक का स्थान नायक से तटस्थ है। आधिकारिक कथा-वस्तु की दृष्टि से इन दोनों के दो रूप और मिलते हैं—(१) कथा-वस्तु से संबद्ध विदूषक और (२) कथा-वस्तु से तटस्थ विदूषक। 'स्कन्दगुप्त' में विदूषक का संबंध कथा-वस्तु से है, पर 'अजातशत्रु' में वह कथा-वस्तु से तटस्थ है। घटना-प्रवाह के साथ उसका सीधा संबंध नहीं है। इन प्रणालियों के अति-रिक्त नाटक में अन्य पात्र अथवा पात्रों-द्वारा भी हास का विधान मिलता है। ऐसे पात्र अथवा पात्रों में संस्कृत-परंपरा के विदूषक की प्रतिष्ठा नहीं होती। प्रसादजी ने इस प्रणाली का भी अनुसरण किया है। मिश्र-बन्धुओं के नाटकों में भी हम इस प्रणाली का प्रयोग पाते हैं। उन्होंने अपने नाटकों में कई पात्रों-द्वारा हास की सृष्टि की है। ऐसे नाटकों को हम विदूषक-विहीन नाटक कह सकते हैं।

(२) प्रासंगिक कथा-वस्तु के रूप में हास—संस्कृत-परंपरा के अन्तर्गत प्राचीन रूपकों में प्रासंगिक कथा-वस्तु के आधार पर भी हास का विधान मिलता है। इस परंपरा के अनुसार नाटककार अपनी कल्पना-शक्ति से आधिकारिक कथा-वस्तु की आत्मा के अनुरूप हास्यात्मक प्रासंगिक कथा-वस्तु की सृष्टि करते थे और उसे आधिकारिक कथा-वस्तु के अन्तर्गत स्थान देते थे। इस प्रकार के दृश्यों के प्रदर्शन का प्रधान लक्ष्य होता था आधिकारिक कथा-वस्तु की जटिलताओं को दूर करना और उसके प्रति, आदि से अंत तक, सामाजिकों का आकर्षण बनाये रखना। इस प्रकार विदूषक-द्वारा हास की सृष्टि न होकर, कई पात्रों-द्वारा यह कार्य संपन्न होता था। हिन्दी में इस शैली का प्रयोग भी मिलता है।

नाटक की कथा-वस्तु के अन्तर्गत जिन प्रणालियों-द्वारा हास की सृष्टि की जाती है उनके अतिरिक्त हास के सृष्टि को एक स्वतंत्र प्रणाली भी संस्कृत-परंपरा में मिलती है। इस प्रणाली के अनुसार नाटक की संपूर्ण कथा-वस्तु ही हास का माध्यम बन जाती है। ऐसे नाटक प्रहसन कहलाते हैं। यह रूपक का एक भेद माना गया है। आज संस्कृत-परंपरानुगत उसका वह रूप हमें स्वीकार नहीं है। पाश्चात्य नाट्य कला के प्रभाव से उसमें यथेष्ट परिवर्तन हुआ है। आधुनिक नाट्य-साहित्य में उसकी स्वतंत्र सत्ता है, उसकी अपनी विशेषताएँ हैं, उसका अपना इतिहास है। उसकी गणना एकांकी के अन्तर्गत होती है। उसमें कथा-वस्तु अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा कर कही जाती है और पात्रों के चरित्र असंभाव्य रूप में चित्रित किये जाते हैं। उसमें अंक के अन्तर्गत दृश्यों का विधान अनिवार्य नहीं है। प्रहसनकार को इस संबंध में पूरी स्वतंत्रता है। इस प्रकार वह अपनी रचना में एकांकी के सभी तत्त्वों का उपयोग करता है। हिन्दी में प्रहसन के प्रवर्तक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र माने जाते हैं। उनकी 'अंधेर नगरी' एक प्रहसन ही है। प्रहसन का उत्कृष्ट उदाहरण सुदर्शन का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' है।

प्रहसन का स्वरूप

प्रश्न उठता है कि नाट्य साहित्य में प्रहसन का क्या प्रयोजन है? क्या उसके बिना नाट्य-साहित्य संपन्न नहीं माना जा सकता? प्रहसन की उत्पत्ति और उसके विकास के संबन्ध में इन प्रश्नों का विशेष महत्त्व है। प्रहसन हमारे जीवन की सुखान्त भावनाओं का प्रदर्शन रंगमंच पर करता है। हास्य-रस प्रधान होने के कारण वह हमारे जीवन के अत्यन्त निकट है। उसकी भावनाएँ हमारी भावनाएँ हैं, उसकी परिस्थितियाँ हमारी परिस्थितियाँ हैं, उसकी घटनाएँ हमारे जीवन की घटनाएँ हैं। हम अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में गंभीर रहना अपने लिए घातक समझते हैं। हास्य हमारे जीवन का प्रमुख अंग है। वह वसन्त बनकर हमारे जीवन

प्रहसन का प्रयोजन

में आता है और हमें शारीरिक, आत्मिक तथा मानसिक बल प्रदान करता है। जीवन की सँकरीली गलियों में चलते-चलते जब हम ऊब जाते हैं और अब गिरे कि तब गिरे की नौबत आ जाती है तब हास्य की एक क्षीण रेखा ही हम में अपार शक्ति और बल का संचार कर देती है। हम उससे प्रेरणा और स्फूर्ति पाकर आगे बढ़ते हैं और अपनी जीवन-यात्रा में सफल होते हैं। हास्य का जीवन के साथ जब इतना घनिष्ट और महत्त्वपूर्ण संबंध है तब साहित्य में उसे स्थान मिलना ही चाहिए। साहित्य भी तो जीवन की ही व्याख्या है। उसके विविध अंग हमारी भावनाओं का ही आकलन करते हैं। इन अंगों में नाटक हमारे जीवन के अधिक समीप है। वह प्रत्यक्ष रूप मे हमारी भावनाओं का प्रदर्शन करता है। उसमें हास्य की सृष्टि क्यों की जाती है? – इस प्रश्न का उत्तर देते हुए एक प्रसिद्ध पाश्चात्य नाटककार ने लिखा है कि नाटकों की निरंतर गंभीरता जब मस्तिष्क को आक्रान्त कर देती है तब हमें अपने मस्तिष्क को कभी-कभी उसी तरह स्वस्थ तथा सजीव बनाने की आवश्यकता पड़ती है जिस प्रकार हम चलते-चलते थककर विश्राम की खोज करते हैं। साहित्य के गंभीर चिन्तन में इस आवश्यकता की पूर्ति हास्य-रस के सफल आयोजन से होती है। इस प्रकार हास्य हमारे गंभीर मानसिक चिन्तन का विश्राम-स्थल है। उससे हमारा पर्याप्त मनोरंजन होता है।

नाटक की कथा-वस्तु में हास्य की सृष्टि-द्वारा हम सामाजिकों का केवल मनोरंजन ही नहीं करते, उसकी एकरसता को सरसता भी प्रदान करते हैं। आरंभ से अन्त तक दर्शक एक ही रस का आनन्द नहीं ले सकते। नाटक के प्रधान रस को अधिक गतिशील, प्रभावोत्पादक और आनन्दप्रद बनाने के लिए रस-परिवर्तन की भी आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति में हास्य-रस बहुत सहायक होता है। इसकी सृष्टि से नाटकीय कथा-वस्तु की ओर सामाजिकों का ध्यान अधिक काल तक आकृष्ट रहता है। उनमें उत्सुकता और जिज्ञासा उत्पन्न होती है और नाटककार को उनकी मनोवृत्ति के अध्ययन का अवसर मिलता है।

प्रहसन का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन और भी है। हास्य और व्यंग द्वारा समाज और जीवन की जटिल परिस्थितियों का विश्लेषण और उनका प्रत्यक्ष स्पष्टीकरण जैसा रंगमंच से होता है वैसा अन्यत्र नहीं हो पाता। प्रहसन देखकर दर्शक अपनी बहुत-सी जटिल समस्याएँ सुलझा लेते हैं और फिर उनके अनुसार अपने जीवन का मार्ग निश्चित करते हैं। समाज और जीवन के हास्य तथा व्यंगपूर्ण चित्र अपने प्रभाव में बड़े सबल होते हैं। उनसे दर्शकों को पाखंडियों, धूर्तों तथा समाज के अन्य शत्रुओं से सावधान रहने की शिक्षा मिलती है। इस प्रकार प्रहसन सामाजिक हितों की शिक्षा तथा रक्षा के सशक्त साधन हैं। सामाजिक सुधार का जो कार्य उपदेशक वर्षों में कर पाता है उसे प्रहसन दर्शकों की एक बैठक में सफल कर देता है। नाट्य-साहित्य में प्रहसन का मुख्यतः यही प्रयोजन है।

प्रहसन की पृष्ठभूमि

नाट्य-साहित्य में प्रहसन का जो प्रयोजन है उससे स्पष्ट है कि उसका समाज से घनिष्ठ संबंध है। प्रहसन समाज के क्षेत्र से ही अपने लिए सामग्री बटोरता है और उसी के आधार पर अपने कथा-वस्तु का निर्माण करता है। प्रश्न हो सकता है कि क्या एक ही व्यक्ति को लक्ष्य करके प्रहसन की रचना नहीं हो सकती ? हो सकती है, पर एक व्यक्ति के जीवन का आधार लेकर जो प्रहसन प्रस्तुत किया जायगा वह एकांगी होने के कारण लोकप्रिय न हो सकेगा। प्रहसन को लोकप्रिय बनाने के लिए व्यक्ति-विशेष को किसी वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में ही चित्रित करना होगा, या फिर उसमें उन समस्त दोषों की कल्पना करनी होगी जो समाज में साधारणतः प्रचलित हैं। सफल प्रहसन की रचना समाज की ही पृष्ठभूमि पर होती है, ऐसे समाज की पृष्ठभूमि पर जो गुण-दोषमय होता है। यदि समाज उन्नत है, यदि उसका सांस्कृतिक स्तर ऊँचा है, यदि उसमें दोष की अपेक्षा गुण अधिक हैं तो उसकी पृष्ठभूमि पर या तो प्रहसन की रचना होगी ही नहीं और यदि किसी

प्रकार होगी भी तो उस रचना का स्तर इतना ऊँचा होगा कि लाख प्रयत्न करने पर भी उसके प्रदर्शन से दर्शकों को हँसी नहीं आयेगी। मानसिक हास्य को पूर्णतया समझकर उसका रस लेने में शिक्षा, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा परिष्कृत मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। दर्शकों में अधिकांश साधारण स्थिति के ही लोग रहते हैं। उनका मानसिक स्तर अधिक उन्नत नहीं होता। ऐसी दशा में मानसिक हास्य दर्शकों के बीच अधिक लोक-प्रिय नहीं हो पाता और इसीलिए उसकी रचना भी कम होती है। साहित्य में तो ऐसा हास सदैव लोक-प्रिय रहा है जिसमें छोटे-से-छोटा व्यक्ति, अशिक्षित-से-अशिक्षित प्राणी भाग ले सके। इस प्रकार के हास के लिए उन्नत समाज सामग्री प्रस्तुत नहीं कर सकता।

प्रश्न होता है कि ऐसे हास की जिसमें सभी आनन्द ले सकें, रचना कब होती है? समाज-शास्त्र-मर्मज्ञों का कहना है कि साहित्यिक दृष्टि से प्रहसन की रचना उस समय होती है जब समाज के सांस्कृतिक स्तर का ह्रास होने लगता है। समाज में उन्नति और अवनति का, उत्थान और पतन का, बराबर चक्र चलता रहता है। प्रत्येक देश के सामाजिक इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ज्योंही कोई समाज उन्नत अवस्था को प्राप्त होता है त्यों ही वह ऐसा पलटा खाता है कि उन्नति अवनति में परिणत होने लगती है। उस समय उसके सिद्धान्त बदलने लगते हैं और उसके आदर्शों का मापदण्ड परिवर्तित होने लगता है। समाज के इस ऐतिहासिक उथल-पुथल में ही प्रहसन की सामग्री निहित रहती है और नाटककार उसी का प्रयोग करके सफल प्रहसनों की रचना करते हैं।

प्रहसन के विषय

इससे दो बातें हमारे सामने आती हैं—एक तो यह कि प्रहसन सामाजिक पृष्ठभूमि पर ही पनपता है और दूसरी यह कि समाज के सांस्कृतिक ह्रास के साथ प्रहसन के विषयों की संख्या में वृद्धि होती है। प्रत्येक समाज की तीन श्रेणियाँ होती हैं—उत्तम, मध्यम और निम्न। उत्तम

अथवा श्रेष्ठ श्रेणी के सामाजिकों का मानसिक स्तर इतना उन्नत होता है कि उन्हें प्रहसन के प्रति विशेष अभिरुचि नहीं होती और यदि होती भी है तो उनके प्रहसन के विषय इतने दुरूह और मानसिक श्रम साध्य होते हैं कि उन्हें लोक-प्रियता प्राप्त नहीं होती। मध्यम श्रेणी में उत्तम श्रेणी की अपेक्षा गंभीर विषयों का बाहुल्य कम रहता है। ऐसी दशा में उसमें प्रहसन के विषय मिल जाते हैं। निम्न श्रेणी में गुण कम, दोष अथवा पाखंड अधिक होते हैं। इसलिए उसमें हास्य की सामग्री, प्रचुर मात्रा में मिलती है। प्रहसन है भी समाज के मध्यम और निम्न श्रेणी के लोगों के लिए। उन्हीं के आचार-विचार का परिष्कार करना प्रहसन का प्रधान लक्ष्य होता है।

प्रत्येक समाज में अन्य श्रेणी के लोगों की अपेक्षा उत्तम श्रेणी के व्यक्तियों की संख्या इतनी कम होती है कि प्रहसन के विषयों की खोज करते समय उन पर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इसलिए ऐसा प्रत्येक सामाजिक विषय जो शिष्ट हास्य की सृष्टि कर सकता है प्रहसन का विषय हो जाता है। हमारा आधुनिक जीवन इतना व्यापक है कि उसमें प्रहसन के विषय को खोजने के लिए माथा-पच्ची करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जीवन के जो विषय आसानी से प्रहसन को लोक-प्रिय बना सकते हैं उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

(१) पारिवारिक जीवन के विषय—इस प्रकार के विषय के अन्तर्गत पति-पत्नी, सास-बहू, देवरानी-जेठानी, नंद-भौजाई, मालकिन-नौकरानी, स्वामी-सेवक आदि की तू तू-मैं मैं; अनमेल विवाह; बहुविवाह; अविवाहित जीवन तथा अन्य पारिवारिक दृश्य आ सकते हैं।

(२) सामाजिक जीवन के विषय—इस प्रकार के विषयों के अन्तर्गत छल-कपटपूर्ण व्यवहार, मद्यपान, द्यूतक्रीड़ा, असंगत प्रेम, वेश्या-वृत्ति, रूढ़िवादी जीवन, पाखंडपूर्ण जीवन, समाज-सुधारकों की पोल-

लीलाएँ, साधुओं का जीवन, आधुनिक फैशन, अँगरेजी शिक्षा का बालक-बालिकाओं पर प्रभाव आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं।

(३) राजनीतिक जीवन के विषय—इस प्रकार के विषयों के अन्तर्गत राजनीति की चालें, पाखंडी नेताओं का जीवन, दलबंदी के दाँव-पेंच, नेताओं की स्वेच्छाचारिता; नेताओं के कुचक्र, उनके आचार-विचार, उनकी रहन-सहन आदि आ सकते हैं।

(४) साहित्यिक जीवन के विषय—इस प्रकार के विषयों का चयन साहित्यिक व्यक्तियों के जीवन से किया जाता है। कवि की मुद्रा, उसकी भावभंगिमा, उसकी रहन-सहन, सम्पादकों का दंभ और पाखंड, लेखकों की भ्रममूलक आशाएँ, उनका आचार-विचार, उनका मिथ्याभिमान आदि हास्य की अच्छी और आकर्षक सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं।

(५) आर्थिक जीवन के विषय—इस प्रकार के विषयों के अन्तर्गत पूँजीपतियों की *स्वार्थ-साधना*, *उनकी धन-लोलुपता*, *उनका आडम्बरपूर्ण जीवन*, मजदूरों की निर्धनता, पूँजीपतियों और मजदूरों की नोंक-झोंक, ग्राहकों और दूकानदारों के झगड़े, उनकी बेईमानी, उनका पाखंड, उनके आचार-विचार, उनकी रहन-सहन आदि की गणना की जा सकती है।

(६) व्यावसायिक जीवन के विषय—इस प्रकार के विषयों के अन्तर्गत वकीलों के दाँव-पेंच, वादी-प्रतिवादियों के झगड़े, उनके तर्क-वितर्क, जजों के पाखंड, उनकी कचहरी के दृश्य, घूस, अध्यापकों की शिक्षण-पद्धति, उनका पाखंड, उनकी वेश-भूषा, उनके आचार-विचार, *प्रधान कर्मचारियों और उनके सहायकों के बीच होनेवाली तू तू-मैं मैं*, आदि आ सकते हैं।

(७) वैयक्तिक जीवन के विषय—इस प्रकार के विषयों का चयन व्यक्तिगत जीवन से किया जा सकता है। शरीर की स्थूलता, विचित्र वेश-भूषा, मूर्खता, भोजन-प्रियता, मानसिक-विलास, पाखंड,

आडंबरपूर्ण आचार-विचार, रहन-सहन, मूर्खतापूर्ण योजनाएँ, दंभ, मिथ्या गर्व, अस्वाभाविक चेष्टाएँ, कुरूपता, अनैतिकता, अशिष्टता, प्रपंचपूर्ण कार्य आदि से हास्य को अच्छी सामग्री मिल सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रहसन के विषय अनन्त हैं और उन सबका सम्बन्ध किसी-न-किसी रूप में हमारे व्यक्तिगत अथवा सामाजिक जीवन से रहता है। इन विषयों का चयन करते समय हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना चाहिए :—

(१) अश्लील, कुरुचिपूर्ण, फूहड़; वीभत्स अथवा इसी प्रकार के अन्य विषयों को प्रहसन में स्थान न देना चाहिए। हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि प्रहसन का उद्देश्य सामाजिकों के लिए केवल मनोरंजन प्रस्तुत करना ही नहीं, वरन् उनकी अधोगामिनी मनोवृत्तियों का संस्कार करना भी है।

(२) प्रहसन का विषय देश, काल और पात्र के अनुरूप शिष्ट, संयत, व्यापक, सरल, मृदु, प्रभावोत्पादक, व्यंजक तथा प्रसंग, अवसर और दर्शकों की मनोवृत्ति के अनुकूल होना चाहिए। जबतक हास्य के विषय के प्रति दर्शकों का आकर्षण न होगा तबतक हास्य की सृष्टि नहीं हो सकती।

(३) जीवन की जिन घटनाओं से हास्य का उद्रेक होता है उन्हें ज्यों-का-त्यों ही हमें न अपना लेना चाहिए। जिस प्रकार नाटक के वस्तु-विधान में कला और सौंदर्य की प्रतिष्ठा की जाती है उसी प्रकार प्रहसन के वस्तु-विधान को भी सँजाने-सँवारने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि प्रहसन के विषय-निर्वाचन में बड़ी सावधानी से काम लेना पड़ता है। यह कार्य जितना ही सरल है, उतना ही कठिन भी है। इस दिशा में फ्रांसीसी नाटककारों को ही विशेष सफलता मिली है। उन्होंने मानवीय भावों में से किसी एक को चुनकर उसी को प्रहसन का विषय बनाया है और हास्य की सृष्टि के साथ-साथ पात्रों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। अँगरेजी-नाटककारों

ने भी इस शैली को अपनाया है। उन्होंने लोभ, गर्व, प्रतिहिंसा, अहं-भाव आदि मानवीय भावनाओं को लेकर सफल प्रहसनों की रचना की है। संस्कृत-नाट्य-साहित्य में हास्यात्मक दृश्यों को लेकर प्रहसन लिखे गये हैं। इन शैलियों का *हिन्दी-नाट्य-साहित्य* पर भी प्रभाव पड़ा है और कई मौलिक प्रहसन लिखे गये हैं।

प्रहसन में हास्य के सिद्धान्त

अब हम प्रहसन में हास्य के सिद्धान्तों पर विचार करेंगे। इस संबन्ध में हम मारे दशरूपककार ने हास्य के जिन तत्त्वों की व्याख्या की है वे आज सर्वांशतः मान्य नहीं हैं। उन्होंने वेश-भूषा, शब्दावली अथवा कार्यकलाप को हास्य का कारण बताया है और यह कहा है कि '*निद्रालस्य श्रम ग्लानि मूर्छाश्च सहचारिणः*' अर्थात् निद्रा, आलस्य, श्रम, ग्लानि और मूर्छा इसके साथ संचरण करते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञान-वेत्ताओं ने हास्य के तत्त्वों की विशद व्याख्या की है और उसके सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त निश्चित किये हैं। सत्रहवीं शताब्दी में हास्य के 'अनायास उत्कर्ष' का विशेष महत्त्व रहा है। शरीर-विज्ञानवेत्ताओं ने 'अतिशय शक्ति का उद्रेक' ही हास का कारण माना है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक स्पेंसर ने '*अवगति के निरीक्षण*' को ही हास का कारण बताया है। उनके सिद्धान्त के अनुसार हास की स्वाभाविक उत्पत्ति उस समय होती है जब बोधशान बड़ी वस्तु से छोटी वस्तु की ओर आकृष्ट होता है। इसे वह 'अधोमुख असंगति' कहते हैं। इसके विरुद्ध 'उत्तरोत्तर असंगति' से आश्चर्य की उत्पत्ति होती है। हास की उत्पत्ति का एक कारण 'विपर्यय' भी माना जाता है। इसमें परिस्थितियाँ विपरीत होती हैं। जब बच्चे बूढ़ों को पढ़ाते हैं तब अनायास हँसी आ जाती है। आधुनिक शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसन का हास्य-सिद्धान्त '*आवृत्ति*' और '*विपर्यय*' पर आधारित है। उनका मत है कि हास्य के आलम्बन को समाज प्रिय न होना चाहिए, हँसनेवाले को उसका ज्ञान न होना चाहिए और पात्र में

'यांत्रिक क्रिया' होनी चाहिए। विकासवादियों का मत इससे भिन्न है। वे हास्य को हर्ष का एक बाह्य-सूचक मानते हैं। उनके मत के अनुसार हास्य में अकस्मात जो मुँह खुल जाता है वह मनुष्य की उस प्रारंभिक अवस्था का द्योतक है जब उसे भोजन मिल जाना ही परम हर्ष का कारण होता था। इस प्रकार भोजन और हर्ष का अविच्छिन्न संबन्ध हो गया और उसका प्रभाव हमारे स्नायु-संस्थान पर जम गया। आज जब हमें किसी बात से हर्ष होता है तब पूर्वकालीन संस्कारों-द्वारा स्थापित वह संबन्ध हमारे मुख की पेशियों को चलायमान कर देता है। एक दूसरे विकासवादी का कहना है कि मस्तिष्क में रुधिर का संचार स्थगित हो जाने से हास्य की उत्पत्ति होती है। हास्य के इन समस्त सिद्धान्तों में सत्य कम, बुद्धि-विलास अधिक है। वस्तुतः हास्य हमारे जीवन का इतना व्यापक भाव है कि उसके लिए निश्चित रूप से सिद्धान्त स्थिर करना असंभव है। इसीलिए साहित्य-शास्त्र में 'साधारणीकरण' के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की रचना की गयी है। पात्र-द्वारा हृदय के भावों की व्यंजना करना साधारणीकरण कहलाता है। इसमें पात्र तथा दर्शक के हृदय के भाव और आलंबन एक हो जाते हैं। शुद्ध हास्य, उपहास तथा वाग्वैदग्ध में उत्कृष्ट साधारणीकरण होता है। यह भी एक प्रकार की रसात्मक अनुभूति ही है। तात्पर्य यह कि हास्य के संबन्ध में जितने मुँह उतनी बातें हैं। उन सब का समन्वय करके यहाँ हम हास्य के निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण तत्वों का उल्लेख करते हैं :—

(१) प्रत्येक हास्य-विषय का संबन्ध किसी-न-किसी रूप में समाज और उसके व्यक्तियों से होना अनिवार्य है। किसी ठूँठ को देखकर हमें उसी दशा में हँसी आती है जब वह हमें मनुष्य के अनुरूप दिखायी पड़ता है। एक बकरे की दाढ़ी देखकर हम उसी दशा में हंसते हैं जब हम उसकी दाढ़ी को किसी शेख़ अथवा मुल्ला की दाढ़ी समझने लगते हैं। इसी प्रकार ऐसे सभी आलंबनों के संबन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा

सकता है कि उनके भीतर मानव छिपा रहता है। मानव और उसके समाज की उपेक्षा करके हास्य की सृष्टि हो ही नहीं सकती।

(२) प्रत्येक हास्य-विषय में एक बुद्धि से दूसरी बुद्धि के लिए संकेत का रहना अपेक्षित है। इसका तात्पर्य यह है कि हास-परिहास में एक बुद्धि का लगाव दूसरी बुद्धि से बना रहना चाहिए। हास्य का विषय ऐसा होना चाहिए जिसे सुनकर और समझकर दूसरों को हँसी आ जाय। हास्य की सृष्टि में यह सिद्धान्त बहुत उपयोगी होता है। सफल हास्य का अर्थ ही यह है कि दूसरे उसका आनन्द लें। समाचारपत्रों में बहुत से चुटकुले निकलते हैं। जो लोग उन्हें समझते हैं, उन्हें हँसी आती है, पर जो नहीं समझते वे मुँह ताका करते हैं। प्रहसन में वही नाटककार हास्य की अच्छी सृष्टि कर सकता है जो अपने सामाजिकों की मनःस्थिति तथा परिस्थितियों का ध्यान रखता है।

(३) प्रत्येक हास्य-विषय में वेदना अथवा सहानुभूति का अभाव रहता है। भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने करुण रस को हास्य का विरोधी माना है। वास्तव में जहाँ वेदना है, सहानुभूति का सफल आग्रह है, वहाँ हास्य की सृष्टि कैसे हो सकती है? हास्य की सृष्टि के लिए वेदना का अभाव परम वांछनीय है। वेदना में भावुकता है और भावुकता हास्य का परम शत्रु है। एक व्यक्ति साइकिल पर चढ़ते समय गिर पड़ा। ऐसी दशा में जो व्यक्ति उसके प्रति सहानुभूति का प्रदर्शन करेगा उसे हँसी नहीं आयेगी। हँसेगा वह जिसकी उसके प्रति सहानुभूति नहीं होगी। इससे स्पष्ट है कि वेदना-शून्य हास्य ही उच्च कोटि का हास्य होता है।

(४) प्रत्येक हास्य-विषय में हास्य का जनक अपनी श्रेष्ठता का और हास्य-विषय की हीनता का अनुभव करता है। अधिकतर उपहास ऐसे लोगों का किया जाता है जिनके प्रति अप्रत्यक्ष रूप से हम हीनता का भाव रखते हैं, परन्तु सामाजिक भय से हम उस भाव को प्रत्यक्ष नहीं करते। उपहास में वही भाव सुन्दर रूप धारण करके सामने आता है

और सामाजिकों का मनोरंजन करता है। दूसरों को भूल करते देखकर भी हमारे आत्म-भाव की मात्रा बढ़ जाती है और हम भूल करनेवाले की हँसी उड़ाने लगते हैं। उपहास करनेवाला सदा अपने आपको अन्य लोगों की अपेक्षा उत्तम समझता है और उनका उपहास कर अपनी श्रेष्ठता की छाप जमाना चाहता है। नगर-निवासी देहातियों का जो उपहास करते हैं उसके मूल में यही सिद्धान्त काम करता है।

(५) प्रत्येक हास्य-विषय में कोई-न-कोई बात साधारण से विपरीत होती है। जो कुछ हम साधारणतया देखते हैं, जो कुछ हम आशा करते हैं उसके अनुकूल न होना ही विपरीतता है। इसमें छोटी बात को बहुत बड़ी, बड़ी को बहुत ही बड़ी अथवा बहुत ही छोटी करके कहना पड़ता है। समाचारपत्रों में जो व्यंग-चित्र निकलते हैं उनमें विपरीतता ही हमारे हास्य का कारण होती है। नाटे पुरुष के साथ लंबी स्त्री, कुरूप स्त्री के साथ सुन्दर पुरुष, लंबे हट्टे-कट्टे पुरुष के साथ क्षीणकाय नाटी स्त्री, काले पुरुष के शरीर पर पाश्चात्य वेश-भूषा देखकर किसे हँसी नहीं आयेगी ! व्यंग में विपरीततामूलक हास्य होता है। सूम को दानी, कायर को वीर और मूर्ख को पंडित सिद्ध करना व्यंग-द्वारा ही संभव है।

हास्य के उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य सिद्धान्त भी हो सकते हैं। मानसिक अथवा शारीरिक यांत्रिक क्रिया भी हास्य का एक कारण है। इस प्रकार हमारी हँसी के अनेक कारण हैं, अनेक सिद्धान्त हैं। समय की गति के साथ उनमें परिवर्तन भी होता रहता है।

प्रहसन में हास्य के आलंबन

प्रहसन में हास्य के जिन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया है उनसे हास्य के आलंबनों का ज्ञान हो जाता है। वास्तव में हास्य के कारण ही हास्य के आलंबन हैं। संस्कृत-साहित्य में विदूषक हास्य का आलंबन माना जाता है। उसका काम लोगों को हँसाना है। उसकी वेश-भूषा, उसका व्यवहार, उसके कार्य-कलाप ऐसे होते हैं कि उन्हें

देखते ही हँसी आ जाती है। प्रहसन में उसकी स्थिति इतनी व्यापक है कि उसकी सृष्टि में हास्य के सभी तत्वों का समन्वय हो जाता है। पर साहित्य अथवा जीवन के दैनिक व्यापारों में सर्वत्र विदूषक-द्वारा ही हास्य का उद्रेक नहीं होता। यहाँ ऐसे आलंबनों का उल्लेख किया जाता है जिनके कारण हास्य की सृष्टि होती है :—

(१) शारीरिक गुण-द्वारा हास्य का उद्रेक—शारीरिक गुण निकृष्ट हास्य की सृष्टि में सहायक होते हैं। इसमें 'अपकर्ष का सिद्धांत' अधिक काम करता है। लंबे आदमी के साथ उसकी नाटी स्त्री देखकर हँसी आ ही जाती है। बड़ी तोंद भी हमारी हँसी का कारण है। शरीर की स्थूलता, शारीरिक यांत्रिक क्रियाएँ, ब्राह्मण की मोदक-प्रियता, कृपण सेठ की रहन-सहन, पाखंडियों की कृत्रिम मुद्रा, मूर्खों का पांडित्यपूर्ण वाह्य प्रदर्शन आदि हास्य के सबल उपकरण हैं और इनका प्रयोग प्रहसन में बराबर किया जाता है।

(२) मानसिक गुण-द्वारा हास्य का उद्रेक—पात्र के चरित्र में उत्कृष्ट हास्य की पर्याप्त सामग्री रहती है। इस प्रकार की हास्य-सृष्टि में पात्र का सम्पूर्ण चरित्र सामने नहीं आता। यदि हमें किसी सेठ को हास्य का आलंबन बनाना है तो हम उसके समस्त वैयक्तिक गुणों की चर्चा न करके केवल उस समुदाय के सामान्य गुणों पर आक्षेप करेंगे जो उसे धन-लोलुप, पाखंडी, निष्ठुर तथा कृपण सिद्ध करने में सहायक होते हैं। हास्य के ऐसे आलंबनों में 'मानसिक अपकर्ष' का विशेष महत्त्व रहता है। मिथ्याडंबर मानसिक अपकर्ष का सूचक है। उस पाखंडी पंडित को देखकर किसे हँसी नहीं आयेगी जो किसी अछूत को देखकर तीन बार स्नान करता है। मानसिक अपकर्ष जब मूर्खता की सीमा का स्पर्श करता है तभी वह हास्य का विषय बनता है। मानसिक यांत्रिक क्रियाएँ भी हास्य का कारण होती हैं। बार-बार 'जो है सो' कहनेवाले पंडित कथा के अवसरों पर हास्य के प्रतीक बन जाते हैं। इसी प्रकार पात्रों की मानसिक असंबद्धता पर भी हँसी आती है। यह असंबद्धता दो प्रकार

की होती है—(१) आन्तरिक संघर्ष-जन्य तथा (२) बाह्य संघर्ष-जन्य। असंबद्धता में वैषम्य-द्वारा हास्य का चित्रण होता है। अनुभवी डाक्टर के साथ मूर्ख कम्पाउडर, वीर के साथ कायर, कृपण सेठ के साथ खर्चीला नौकर हास्य की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

(३) घटना-द्वारा हास्य का उद्रेक—घटना-द्वारा हास्य की सृष्टि प्रहसन का मुख्य विषय है। प्रहसन में 'अपकर्ष के सिद्धान्त' के आधार पर ऐसी अनेक कल्पित घटनाओं का विधान किया जाता है जिनकी ओर सामाजिकों का विशेष आकर्षण रहता है। इसी प्रकार असंगति, घटना-विपर्यय, हास्यजनक भूल, घटना की आवृत्ति आदि प्रहसन की कथा-वस्तु में जान डाल देते हैं। यात्रा में जाते समय जब वार-बार किसी को काना मिलता है तब हँसी रोके नहीं रुकती। वर्तमान जीवन में आत्मस्वातंत्र्य की प्रवृत्ति भी हास्य की उत्पत्ति में सहायक होती है। धर्माचार्यों का उपहास और उनके नियमों की जो खिल्ली उड़ाई जाती है उसमें आत्मस्वातंत्र्य की भावना ही मुख्यतः काम करती है।

(४) रहन-सहन-द्वारा हास्य का उद्रेक—रहन-सहन-द्वारा हास्य का उद्रेक दो कारणों से होता है। किसी पंडित को जुआड़ी अथवा पियक्कड़ों की मंडली में बैठा देखने से जब हास्य का उद्रेक होता है तब उसके मूल में 'अपकर्ष का सिद्धान्त' काम करता है। आधुनिक फैशन के बाबुओं पर मार्यानितावादी हँसते हैं और उन पर व्यंग करते हैं। यांत्रिक क्रिया भी हास्य की सृष्टि करती है। किसी की नकल बनाकर उसी प्रकार का आचरण करने से भी हास्य का उद्रेक होता है। वकील का प्रत्येक अवसर पर अपने पेशे की दुहाई देना, वैद्य का प्रत्येक रोगी को किसी-न-किसी घातक रोग से पीड़ित घोषित करना यांत्रिक क्रिया के ही परिणाम हैं। विदूषक रहन-सहन-जन्य हास्य का श्रेष्ठतम् आलंबन है।

(५) संवाद-द्वारा हास्य का उद्रेक—इस साधन-द्वारा हास्य का उद्रेक अधिकांश साहित्यिक प्रहसनों में होता है। विचार तथा शैली की असंबद्धता अथवा असंगति ही इसका कारण है। हमें हँसी इसलिए

आती है कि पात्र जो कुछ कहना चाहता है उसे वह उचित भाषा का रूप नहीं दे पाता। इस प्रकार अर्थ का अनर्थ हो जाता है। बेफ़जूल, निखालिस, बनमोर्स आदि ऐसे ही शब्द हैं जो अपने अनुचित प्रयोग के कारण वाक्य में हास्य की सृष्टि करते हैं। एक मदरासी अथवा बंगाली जब अटपटी हिन्दी में बातें करने लगता है तब हम बिना हँसे रह नहीं सकते। *इस संबंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे समस्त अवसरों पर हमें शब्दार्थ का ध्यान लेशमात्र भी नहीं रहता।*

हास्य के उपर्युक्त आलंबन अन्तिम नहीं हैं। हास्य-प्रिय नाटककार समय-समय पर नवीन आलंबनों की उद्भावना करके अपनी रचनाओं में हास्य की सृष्टि करते हैं। छद्म वेश भी हास्य का एक आलंबन है। अत्यन्त घमंडी तथा दर्प में चूर्ण लोग भी हास्य के साधन होते हैं। मिथ्या भाषण, गप्प, आत्म-प्रशंसा आदि भी हास्य के उपकरण हो सकते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हास्य के आलंबनों की सीमा अत्यन्त विस्तृत और और व्यापक है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ हास्य के अभिनव उपकरण सामने आते हैं और हमारा मनोरंजन करते रहते हैं।

प्रहसन में हास की शैलियाँ

प्रहसन के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उसमें हास्य के विधान की एक नहीं, अनेक शैलियाँ हो सकती हैं। अँगरेजी-साहित्य में गुण तथा उद्देश्य और उपकरण के अनुसार हास (कामिक) के चार मुख्य भेद माने गये हैं—(१) शुद्ध हास (२) भ्रान्त हास (३) उपहास और (३) वाग्वैदग्ध। इन्हीं भेदों के अनुसार हास की चार शैलियाँ हो सकती हैं—(१) हासात्मक शैली, (२) भ्रान्तात्मक शैली (३) उपहासात्मक शैली और (४) वैदग्धात्मक शैली। अनेकांकी और एकांकी में इन्हीं चारों शैलियों के अन्तर्गत गौण रूप से और प्रहसन में मुख्य रूप से हास्य का विधान मिलता है। इसलिए यहाँ हम इन्हीं चारों शैलियों पर विचार करेंगे :—

(१) शुद्ध हासात्मक शैली—इस शैली के अन्तर्गत शुद्ध हास्य का (ह्यूमर) विधान किसी घटना, चरित्र अथवा कार्य के माध्यम से किया जाता है। इसलिए यह वास्तविक हास होता है। हास्य और विडम्बना में अन्तर है। विडम्बना में हम उस वस्तु में विश्वास करने का ढोंग रचते हैं जिसमें हमारा विश्वास नहीं है। हास्य में हम उस वस्तु के प्रति अविश्वास करते हैं जिसके प्रति हमारा विश्वास होता है। इसमें प्रहसनीय विषय की ओर हमारी हलकी-सी सहानुभूति भी रहती है। हम विषय की दुर्बलताओं पर हँसते हैं। प्रहसनकार उन दुर्बलताओं का चित्रण इतने कलात्मक ढंग से करता है कि उनके प्रति दर्शकों के हृदय में सहानुभूति का भाव ही उत्पन्न होता है, घृणा अथवा द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं हो पाते। सहानुभूति में करुणा की एक अत्यन्त सूक्ष्म धारा का सदैव प्रवाह रहता है। दर्शक प्रहसनीय पात्र पर हँसते अवश्य हैं, पर वे हृदय से यही इच्छा करते हैं कि उसकी दुर्बलता का अन्त हो जाय। सुधार की इच्छा यह उनमें सदैव गौण ही रहती है। इसके प्रधान होने पर हास्य की सृष्टि नहीं हो सकती। इस संबंध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस शैली-द्वारा निरूपित हास्य वैयक्तिक ही होता है और इस व्यक्तिगत प्रधानता के कारण ही पात्र की जो दुर्बलता एक को उचित प्रतीत होती है, दूसरे को वह असंगत जान पड़ती है। ऐसी दशा में यदि सभी दर्शक एक साथ खिलखिलाकर न हँसें तो यह शैली का दोष नहीं, मानव-मन की व्यक्तिगत साधना का परिणाम है। हिन्दी में इस शैली का सफल प्रयोग प्रसादजी तथा जे० पी० श्रीवास्तव ने किया है। जे० पी० श्रीवास्तव ने अपने प्रहसनों में घटना, पात्र और कार्य—इन तीनों साधनों से हास्य की सृष्टि की है और उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता भी मिली है।

(२) भ्रान्त्यात्मक शैली—इस शैली के अन्तर्गत भ्रान्त अथवा निरर्थक (नान्सेंस) के माध्यम से हास की सृष्टि की जाती है। इस शैली का प्रयोग प्रहसन में अत्यधिक होता है। इसके प्रायः तीन रूप हैं—(१)

इसका पहला रूप हमें उनमें कल्पित कथा-वस्तुओं में देखने को मिलता है जो वास्तविकता की सीमा से अत्यधिक दूर हो जाते हैं। ऐसी कथा-वस्तुओं को हम 'गप्प' कह सकते हैं। (२) इसका दूसरे प्रकार का रूप हमें उन कल्पित कथा-वस्तुओं में मिलता है जो अतिशयोक्ति के कारण अपना अस्तित्व ही विलीन कर देती है और अभिनव कथा-वस्तु में परिणत हो जाती हैं। (३) इसका तीसरे प्रकार का रूप हमें उन कथा-वस्तुओं में मिलता है जिनके आकार विकृत कर दिये जाते हैं। प्रहसनों की रचना में भ्रान्त की इन तीनों शैलियों का प्रयोग होता है। भ्रान्त अथवा निरर्थक हमारी हँसी के आदि कारण हैं। हम अपनी शैशवावस्था में जिन बातों पर हँसते हैं वे प्रायः निरर्थक ही होती हैं। उस समय हमारी हँसी का कोई विशेष कारण नहीं होता। हम अपनी प्रौढ़ावस्था में जिन बातों को निरर्थक समझकर उनकी ओर से विमुख हो जाते हैं उन्हीं बातों की ओर शैशवावस्था में हमारा विशेष आकर्षण रहता है। इस प्रकार भ्रान्त का प्रहसन से विशेष संबंध है। इसका प्रयोग करने से घटनाएँ इतनी अतिरंजित हो जाती हैं कि उनमें हमारा विश्वास नहीं रहता। हम बता चुके हैं कि शुद्ध हास में प्रहसनीय विषय के प्रति हमारी सहानुभूति होती है, पर जब वही प्रहसनीय विषय भ्रान्त के माध्यम से हमारे सामने आता है तब उसके प्रति हमारी सहानुभूति नहीं होती। दोनों में एक अन्तर और है। शुद्ध हास में हास्यास्पद पात्र को अपनी वास्तविक स्थिति का ज्ञान रहता है, भ्रान्त हास्य में उसे अपने उपहास्यास्पद होने का ज्ञान नहीं रहता। यदि ऐसा हो जाय तो भ्रान्त हास्य की सृष्टि ही नहीं हो सकती। गप्पी उसी समय तक दून की हाँकता है जबतक उसे अपने उपहास्यास्पद होने का ज्ञान नहीं रहता, पर ज्यों ही वह यह जान जाता है कि दूसरे उस पर हँस रहे हैं, वह डींग मारना बन्द कर देता है।

(३) उपहासात्मक शैली—*इस शैली के अन्तर्गत उपहास (सटायर)* के माध्यम से हास की सृष्टि की जाती है। हम बता चुके हैं कि शुद्ध हास में सहानुभूति की हलकी भावना रहती है। उपहास इससे भिन्न होता

है। उसमें सहानुभूति का आग्रह नहीं होता, विशेषतः अपकर्ष अथवा घृणा का भाव रहता है। एक अन्तर और है। शुद्ध अथवा भ्रान्त हास में घटना, पात्र अथवा कार्य स्वयं हास्यास्पद नहीं बनता, उसके माध्यम से हास की सृष्टि मात्र होती है। उपहास में वही घटना, वही पात्र, वही कार्य स्वयं हास्यास्पद बन जाता है। उपहास की एक संज्ञा व्यंग भी है। उपहास किसी पात्र, समाज, संस्था अथवा वर्ग की दुर्बलताओं का उद्घाटन ही नहीं करता, वह उस पर आक्षेप और व्यंग भी करता है। शुद्ध हास अथवा भ्रान्त हास का लक्ष्य होता है—हमारा मनोरंजन करना। उपहास द्वारा हम उसी का विरोध भी करते हैं। इसके दो रूप हैं—एक तो वह जो विषाक्त वाण की भाँति हमारे हृदय को उत्पीड़ित कर देता है और हम छटपटा उठते हैं और दूसरा वह जो मधुर चुटकियाँ लेता है और हमारा हृदय गुदगुदा देता है। प्रहसन में उपहास का दूसरा रूप ही वांछनीय है। उसका विषय सब प्रकार की मूर्खताओं का उद्घाटन है और उसका संबन्ध हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क से अधिक होता है। ऐसी दशा में कुशल कलाकार ही इसका प्रयोग करने में सफल होते हैं। हिंदी में के प्रायः सभी प्रहसनकारों ने इसका सफल प्रयोग किया है। जे० पी० श्रीवास्तव-कृत 'साहित्य का सपूत' इसी प्रकार का उपहासात्मक प्रहसन है।

(४) वैदग्धात्मक शैली—संवाद में वाग्वैदग्ध (विट्) द्वारा जब हास्य की सृष्टि होती है, तब वैदग्धात्मक शैली का आविर्भाव होता है। वाग्वैदग्ध, हास्य का गुण नहीं, एक शैलीमात्र है। यह शैली अधिक हास्योत्पादक होती है। यह हास (कामिक) की नहीं, हास्य की, उत्फुल्लता की सृष्टि करती है। जिस प्रकार अलंकार के प्रयोग से काव्य आनन्दमय हो जाता है उसी प्रकार वैदग्ध के सफल प्रयोग से हास (कामिक) की रुचिरता और उसका चमत्कार बढ़ जाता है। इसीलिए इसे हास के अन्तर्गत माना गया है। यह विचार के अभिव्यक्ति की एक कलापूर्ण प्रणाली है। यह वाणी के आश्रित है और वाणी-द्वारा ही इसकी अभि-

व्यक्ति होती है। इसकी कहीं भी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। यह कहीं शब्द पर और कहीं अर्थ या विचार के आश्रित रहती है। इसीलिए इसके दो भेद माने गये हैं—(१) शब्द-वैदग्ध और (२) अर्थ-वैदग्ध। शब्द-वैदग्ध की विदग्धता शब्द के आश्रित रहती है। इसमें एक शब्द पहले अपना निश्चित अर्थ सूचित करता है, फिर दूसरी बार उस शब्द को विभक्त कर एक नया अर्थ निकाला जाता है। यही दोनों अर्थ, वैदग्ध तथा हास्य के कारण होते हैं। अलकार की दृष्टि से इसे हम 'यमक' कह सकते हैं। जिस प्रकार शब्दालंकार में उस विशेष अलंकृत शब्द के स्थान पर अन्य पर्यायवाची शब्द रख देने से उस वाक्य की शोभा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार शब्द-वैदग्ध में यदि उस प्रयुक्त शब्द के स्थान पर अन्य शब्द रखदें तो उसकी विदग्धता जाती रहती है। शाब्दी व्यंजना में भी शब्द के दो अर्थ होते हैं, पर उसमें प्रयोक्ता का संदेश केवल एक ओर रहता है। अर्थ-वैदग्य की विदग्धता अर्थगत होती है। जिस प्रकार अर्थालंकार की आलंकारिकता शब्द-परिवर्तन से नष्ट नहीं होती, उसी प्रकार अर्थ-वैदग्ध भी शब्द-परिवर्तन से नष्ट नहीं होता। अलकार की दृष्टि से उसे हम 'श्लेष' कह सकते हैं। प्रहसन में इन दोनों का प्रयोग दो विभिन्न दृष्टियों से किया जाता है—एक तो केवल मनोरंजन के लिए और दूसरा अश्लीलता का उद्घाटन अथवा व्यंग के लिए। साभिप्राय वैदग्ध में आक्षेप के अनुकूल वैदग्ध की प्रधानता रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह हास्य का एक कला-पूर्ण आलंबन है। इससे कथोपकथन में जीवन आ जाता है और उसकी रोचकता बढ़ जाती है। इसका प्रयोग भाषा तथा शैली पर पूर्ण अधिकार की अपेक्षा रखता है। हिन्दी के प्रायः सभी नाटककारों ने अपने नाटकों में इसका प्रयोग किया है।

अबतक हमने हास की जिन शैलियों का निरूपण किया है उससे यह न समझना चाहिए उनमें किसी प्रकार की समता नहीं होती। वास्तव में अपनी पूर्णता के लिए उक्त शैलियाँ एक-दूसरे की अपेक्षा रखती हैं

और एक शैली के अन्तर्गत दूसरी शैली को स्थान मिलता है। प्रहसन की रोचकता तो उन समस्त शैलियों के कलापूर्ण समन्वय में ही निहित रहती है। यह कलाकार का काम है कि वह अपनी रचना में इनका समन्वय किस प्रकार करे। जो इस कार्य में सफल है वही प्रहसन का सफल लेखक है।

अब हमें प्रहसन के भेदों पर विचार करना है। संस्कृत-नाटकाचार्यों ने नाटकीय पात्रों के अनुसार उसके तीन भेद माने गये हैं—(१) शुद्ध, (२) विकृत और (३) संकर

प्रहसन के भेद

शुद्ध-प्रहसन में पाखंडी, संन्यासी, तपस्वी अथवा पुरोहित नायक होता है और उसके चरित्र का उपहासात्मक उद्घाटन होता है। इसमें चेट, चेटी, विट आदि नीच पात्र भी आते हैं। पात्रों की वेश-भूषा और उनकी विचित्र आकृति तथा बोलने के ढंग से इस प्रकार के प्रहसनों का विशेष प्रभाव रहता है। इसमें हास्यपूर्ण उक्तियों का आधिक्य रहता है। विकृत प्रहसन में नपुंसक, कंचुकी तथा तपस्वी कामुकों के वेश में चित्रित किये जाते हैं। संकर-प्रहसन में हास्य का खुलकर प्रयोग होता है। इसका नायक धूर्त होता है और इसमें छल, कपट, हास-परिहास तथा व्यंग आदि का बाहुल्य होता है। असत्य को सत्य और सत्य को असत्य, गुण को अवगुण और अवगुण को गुण घोषित करके पात्र हास्यात्मक परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं जिनका प्रदर्शन अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद होता है।

पाश्चात्य नाटककारों ने नाटकीय तत्वों की दृष्टि से प्रहसन के चार भेद किये हैं—(१) परिस्थिति-प्रधान, (२) चरित्र-प्रधान (३) कथोपकथन-प्रधान और (४) विदूषक-प्रधान। इन चारों भेदों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) **परिस्थिति-प्रधान प्रहसन**—इस प्रकार के प्रहसनों में कथावस्तु की प्रधानता रहती है। प्रहसनकार अपने निरीक्षण, अनुभव

अथवा कल्पना से पहले वास्तविक परिस्थितियों का निर्माण करता है और फिर वह उन परिस्थितियों को वस्तु में इस प्रकार सजाता-सँवारता है कि स्वाभाविक रूप से हास्य की सृष्टि हो जाती है। इस कार्य में उसे बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन से अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए क्या लेना है और क्या नहीं लेना है ?—इसका उसे विशेष रूप से ध्यान रखना पड़ता है। इसके साथ ही उसे यह भी देखना पड़ता है कि हास्य के रूप में जो सामग्री वह प्रस्तुत करने जा रहा है वह व्यापक है अथवा नहीं। परिस्थिति-प्रधान प्रहसन के लिए सदैव ऐसी ही सामग्री जुटानी चाहिए जो व्यापक हो और सब उसका आनन्द ले सकें। सास-बहू, नन्द-भौजाई, देवरानी-जेठानी आदि के झगड़े, अनमेल विवाह, पंडितों तथा मौलवियों की शिक्षण-पद्धति आदि में ऐसी सामग्री प्रचुर मात्रा में मिल सकती है जो दर्शकों का मनोरंजन करने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी हो।

(२) चरित्र-प्रधान प्रहसन—इस प्रकार के प्रहसन में मानवीय भावनाओं का चित्रण रहता है। इसमें मिथ्याभिमान, गर्व, अहंकार, पाखंड, लोभ, मोह, द्वेष, घृणा आदि भावों के आधार पर पात्रों का चरित्र-चित्रण किया जाता है। एक प्रकार से इसमें हमारी ही भावनाओं का दिग्दर्शन मिलता है। इसलिए इस प्रकार के प्रहसन के प्रति हमारी विशेष अभिरुचि रहती है। इस संबन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि प्रत्येक मनुष्य में इन भावों का अस्तित्व रहता है तथापि जबतक वे अपनी मर्यादा की सीमा के भीतर रहते हैं तबतक ये नाटकीय वस्तु का रूप धारण नहीं करते। चरित्र-प्रधान प्रहसन में इनका प्रयोग तभी होता है जब ये अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर हास्यास्पद हो जाते हैं। बात-बात पर चिढ़नेवालों, अपने ज्ञान और धन के सम्बन्ध में बढ़चढ़ कर बातें करनेवालों, गंगा के किनारे माला फेरते समय सुन्दरियों का नग्न शरीर देखनेवालों तथा इसी प्रकार के अन्य पात्रों का चरित्र जब रंगमंच से दिखाया जाता है तब कौन ऐसा सहृदय

है जिसे हँसी नहीं आती। चरित्र-प्रधान प्रहसन मानवीय भावों के निष्फल रूप हैं। इस प्रकार के प्रहसन में लेखक को वस्तु-प्रधान प्रहसनों की अपेक्षा अधिक सतर्कता से काम लेना पड़ता है। उसे मनोविज्ञान के सहारे उन समस्त परिस्थितियों का अध्ययन करना पड़ता है जो मानवीय भावों की प्रेरणा से उत्पन्न और उद्दीप्त होती हैं। परिस्थिति-प्रधान प्रहसन का लेखक लौकिक जीवन से असाधारण परिस्थितियाँ बटोरकर हास्य उपस्थित करता है; चरित्र-प्रधान-प्रहसन लेखक अपनी रचना के लिए मानव-हृदय टटोलता है, मानव-मन और मस्तिष्क का अध्ययन करता है और फिर अपने तत्सम्बन्धी निरीक्षण एवं अनुभव के आधार पर हास्यात्मक सामग्री एकत्र करता है। दूसरे का कार्य पहले की अपेक्षा कहीं अधिक गुरुतर, गंभीर और कलापूर्ण है।

(३) **कथोपकथन-प्रधान प्रहसन**—इस प्रकार के प्रहसन में कथोपकथन की प्रधानता रहती है और उसी के माध्यम से हास्य की सृष्टि की जाती है। कथोपकथन अथवा वाक्चातुर्य आधुनिक काल की श्रेष्ठ और लोक-प्रिय कला है। इसमें शब्द-ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक शिष्टाचार आदि की भी आवश्यकता होती है और इन सब के द्वारा हास्य, व्यंग, यमक एवं श्लेष के आधार पर हास्यात्मक परिस्थितियों का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार के प्रहसन में शिष्ट संभाषण के स्तर से नीचे गिरने और तर्क-वितर्क में पड़कर हास्य और व्यंग की मर्यादा नष्ट करने की अधिक संभावना रहती है। ऐसी दशा में लेखक को सदैव अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखनी पड़ती है। उसे यह भी देखना पड़ता है कि उसके पात्र बातों में पड़कर भाषण न देने लगें और वे अपने उद्देश्य से विचलित न हो जायँ। व्यंग के अतिरिक्त दूसरों की शैली के उपहास-पूर्ण अनुकरण-द्वारा भी हास्य की सृष्टि हो सकती है। हिन्दी-जगत् में अनेक कवियों की कविताओं का उपहासपूर्ण अनुकरण हुआ है। अँगरेजी में इस प्रकार के अनुकरण को 'पैरोडी' कहते हैं। 'तकिया कलाम' भी हास्य-प्रस्तुत करने का एक उपयुक्त साधन है और कथोप-

कथन में इस का प्रयोग बड़ी सफलता से हो सकता है। 'जी सरकार', 'जो है सो', 'ख्याल फरमाइए', 'समझे' आदि ऐसे शब्द हैं जिनके सहारे बातचीत करने में एक विशेष प्रकार का आनन्द दर्शकों को मिल सकता है। इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों के संचालन, स्वर आदि के उतार-चढ़ाव एवं मुखाकृति के अनुकरण से भी शिष्ट हास्य का वातावरण उपस्थित किया जा सकता है।

(४) विदूषक-प्रधान प्रहसन—इस प्रकार के प्रहसन की हम अन्यत्र चर्चा कर चुके हैं। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस प्रकार के प्रहसन आधिकारिक कथा के साथ ही चित्रित किये जाते हैं। स्वतंत्र रूप से उनका कोई अस्तित्व नहीं रहता। अँगरेजी-परंपरा में 'क्लाउन' और संस्कृत-परम्परा में 'विदूषक' दोनों के व्यक्तित्व में विशेष अन्तर नहीं है।

प्रहसन की प्रगति

यह तो हुआ प्रहसन का वर्गीकरण। अब हमें हिन्दी-नाट्य साहित्य में प्रहसन की प्रगति पर विचार करना है। प्रहसन के संबन्ध में कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि उसकी रचना अन्य रूपकों की अपेक्षा सरल होती है। इस प्रकार के विश्वास के प्रायः तीन आधार होते हैं। **पहला** तो यह कि प्रहसन का विषय सरल होता है, **दूसरा** यह कि अन्य प्रकार के रूपकों के लिए जिस सांस्कृतिक स्तर की आवश्यकता होती है प्रहसन के लिए उसका होना अपेक्षित नहीं है और **तीसरा** यह कि रूपक के अन्य भेदों की रचना में जिन नाटकीय विशेषताओं की आवश्यकता होती है प्रहसन की रचना में उनका विशेष महत्त्व नहीं है। प्रहसन-लेखक यदि अपनी रचना-द्वारा सफल हास का आयोजन कर देता है तो वह अपनी रचना में स्तुत्य है। प्रश्न उठता है कि इस सुविधा के होते हुए भी अन्य रूपकों की अपेक्षा प्रहसनों की संख्या न्यून क्यों है ? इसके तीन कारण हो सकते हैं :—

(१) हमारे जीवन में हास-परिहास का महत्त्व है अवश्य, पर वही सब

कुछ नहीं है। यदि हम दिनभर हँसते रहें तो हम पागल ही समझे जायँगे। वस्तुतः दिनभर हँसना हमारे लिए संभव भी नहीं है। यदि हम हँसना भी चाहें तो हँस नहीं सकते। घंटे दो घंटे भी हंसना हमारे लिए दूभर हो जाता है। वास्तव में अपने गंभीर चिन्तन के भार को हलका करने के लिए ही हम हँसने की इच्छा करते हैं। ऐसी इच्छा क्षणिक ही होती है और क्षणिक होने के कारण ही इसका विशेष महत्त्व है। हम अपने जीवन का अधिकांश समय गंभीर चिन्तन में ही व्यतीत करते हैं। ऐसी दशा में हमारे जीवन में गंभीर चिन्तन और हास में जो अनुपात होता है उसी अनुपात में दोनों को साहित्य में स्थान मिलता है। नाट्य-साहित्य में रूपक के अन्य भेदों की अपेक्षा प्रहसन की न्यूनता का यही कारण है।

(२) प्रहसन की न्यूनता का दूसरा कारण उसकी रचना से सम्बन्ध रखता है। वास्तव में उसकी रचना सरल नहीं है। उसकी रचना के लिए नाटककार को पाप से पुण्य, अवगुण से गुण, असुन्दर से सुंदर, असत्य से सत्य, अनीति से नीति और अनाचार से आचार निकालना पड़ता है। उसे प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज, प्रत्येक राष्ट्र तथा जन-जीवन की प्रत्येक गतिविधि पर दृष्टि रखनी पड़ती है और उन सबकी विचार-धारा, संस्कृति एवं सभ्यता की परिस्थितियों का आकलन करने के पश्चात् उन्हें रंगमंच के अनुकूल बनाना पड़ता है। यह कार्य सरल नहीं है। विरले साहित्यकार ही इस कार्य में दक्ष हो सकते हैं। नाट्य-साहित्य में प्रहसन की कमी का यह भी एक कारण है।

(३) प्रहसन की रचना में तीसरी बाधा उपस्थित होती है भाषा की ओर से। कुछ भाषाएँ स्वभाव से ही गंभीर होती हैं। जिस प्रकार गंभीर विषयों की चिन्ता करनेवाला साहित्यकार हास्य की सृष्टि करने में विफल रहता है उसी प्रकार गंभीर भाषाएँ हास की परिस्थितियों का यथावत चित्रण करने में असमर्थ रहती हैं। इस कथन से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि गंभीर भाषा में हास की सृष्टि हो ही नहीं सकती। होती अवश्य

है, पर जो चुलबुलाहट, जो व्यंजकता, जो स्पन्दन और रंगीनी हास्य-परिहास के लिए अपेक्षित है, यदि भाषा में वह नहीं आ पाती तो उस भाषा में चित्रित हास की परिस्थितियाँ हमारा हृदय गुदगुदाकर रह जायँगी, हमें खिलखिलाकर हँसने का अवसर नहीं देंगी। उर्दू के काव्य, कहानी तथा उपन्यास में हास्य और व्यंग का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है, हिन्दी में अभी वैसा नहीं हो सका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी-नाट्य-साहित्य में शिष्ट प्रहसन की रचना एक सीमा के भीतर ही हो सकी है। संस्कृत-परंपरा में प्रहसन कम मिलते हैं। हिन्दी में प्रहसन का सूत्रपात भारतेन्दु के समय से होता है। तब से अबतक जितने प्रहसन लिखे जा चुके हैं उन्हें हम ऐतिहासिक दृष्टि से तीन कालों में विभाजित कर सकते हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) भारतेन्दु-काल के प्रहसन—हिन्दी-नाट्य साहित्य का आरंभ भारतेन्दु-युग से होता है। भारतेन्दु अच्छे और स्वस्थ नाटककार थे। उनमें हास्य प्रियता भी थी। इसलिए उन्होंने अपने समय की आवश्यकता के अनुसार 'अँधेर नगरी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि प्रहसनों की रचना की। उनके समय में और भी कई प्रहसन लिखे गये। देवकीनन्दन त्रिपाठी ने लगभग सात प्रहसनों की रचना की जिनमें से 'कलियुगी जनेऊ', 'स्त्री चरित्र', 'एक-एक के तीन-तीन' अधिक प्रसिद्ध हैं। बालकृष्ण-कृत 'शिक्षादान या जैसा काम वैसा परिणाम', हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ-कृत 'ठगी की चपेट', पन्नालाल-कृत 'हास्यार्णव', प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलिकौतुक रूपक', विजयानन्द-कृत 'महाअंधेर नगरी', राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुँह मुहासे', किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'चौपट चपेट', गोपालराम गहमरी-कृत 'दादा और मैं' राधाकांतलाल-कृत 'देसी कुत्ता विलायती बोल' और बलदेवप्रसाद मिश्र-कृत 'लल्लू बाबू' आदि का, हिन्दी के प्रहसन-साहित्य में, विशेष स्थान है। यह सच है कि कला की दृष्टि से ये रचनाएँ खरी नहीं उतरतीं, पर जिस युग और

जिन परिस्थितियों में उनका निर्माण हुआ उनकी दृष्टि से उनका मूल्य अवश्य है और वे हमारे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं।

(२) प्रसाद-काल के प्रहसन—प्रसाद-काल में भी कई प्रहसन लिखे गये। बदरीनाथ भट्ट ने 'चुंगी की उम्मेदवारी' से इस युग का आरंभ किया। कला की दृष्टि से यह प्रहसन सफल नहीं रहा। भारतेन्दु-कालीन प्रहसन-परंपरा का इस पर भी प्रभाव रहा, पर विषय की दृष्टि से यह सर्वथा नवीन था। इसमें तत्कालीन युग की एक विशेषता को उपहासात्मक रूप दिया गया था। इसलिए इसने भारतेन्दु-युग और प्रसाद-युग के बीच एक विभाजन-रेखा खींच दी। प्रसाद जी ने स्वतंत्र रूप से किसी प्रहसन की रचना नहीं की, पर अपने नाटकों में उन्होंने हास्य का विधान अवश्य किया। जे० पी० श्रीवास्तव का आविर्भाव भी इसी युग में हुआ। उन्होंने 'उलटफेर', 'दुमदार आदमी', 'गड़बड़ झाला' 'मर्दानी औरत', 'भूल-चूक' आदि कई प्रहसनों की रचना की। राधेश्याम-कृत 'कौंसिल की उम्मेदवारी', गोविन्दवल्लभ-कृत 'कंजूस की खोपड़ी'; रामदास गौड़-कृत 'ईश्वरीय न्याय'; बदरीनाथ भट्ट-कृत 'लबड़ धौं-धौं', 'विवाह-विज्ञापन' और 'मिस अमेरिकन'; बेचन शर्मा उग्र-कृत 'चार बेचारे' तथा सुदर्शन-कृत 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' इस युग की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। कला की दृष्टि से सुदर्शन-कृत 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' उत्कृष्ट रचना है। भारतेन्दु-कालीन प्रहसनों की अपेक्षा इस युग के प्रहसन कला, विषय और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। भारतेन्दु-कालीन प्रहसन हास्यात्मक दृश्य के अन्त में उपदेशात्मक बन जाते थे। इससे उनकी कला की पूर्णता में बाधा पड़ती थी। प्रसाद-कालीन प्रहसन इस दोष से मुक्त हैं। उन पर पाश्चात्य प्रहसन-कला का अच्छा प्रभाव पड़ा है।

(३) आधुनिक काल के प्रहसन—प्रहसन-रचना की दृष्टि से यह काल अभी विशेष महत्त्व का नहीं है। वास्तव में सुदर्शन के 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' के पश्चात् कोई ऐसी रचना सामने नहीं आयी जिसे साहित्यिक

दृष्टि से प्रहसन कहा जा सके। इसके दो ही कारण हो सकते हैं—एक तो हमारा राजनीतिक संघर्ष और दूसरा सिनेमा के प्रचार के कारण हिन्दी रंगमंच की ओर से नाटककारों की उदासीनता। ये दोनों कारण इतने व्यापक हैं कि इनके सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। रेडियो से प्रहसन का प्रचार अवश्य हो रहा है और उसकी आवश्यकतानुसार अच्छे प्रहसन लिखे जा रहे हैं। इस समय हिन्दी साहित्यकारों की गम्भीर विषयों की ओर विशेष अभिरुचि है।

साहित्य में प्रहसन का स्थान

अबतक हमने प्रहसन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य में उसकी अपनी विशेषता और अपनी स्वतंत्र सत्ता है। साहित्य में जीवन की जिन परिस्थितियों और अनुभूतियों का चित्रण रहता है वही हास्य के माध्यम से प्रहसन की सृष्टि करती हैं। प्रहसन की सामग्री के लिए हमें अन्यत्र नहीं जाना पड़ता, जीवन को ही टटोलना पड़ता है। प्रहसन का मुख्य गुण है हास्य और वह हमारे जीवन में इस तरह घुला-मिला है कि हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। इसलिए साहित्य हास्य की ओर हास्य साहित्य की अपेक्षा रखता है। हमारे साहित्यकारों ने हास्य को एक स्वतंत्र रस माना है और उसकी विस्तृत व्याख्या की है। इस का विकास शृङ्गार रस के अंतर्गत होता है। शृङ्गार का स्थायी भाव 'रति' है। इसलिए उसके अन्तर्गत हास्य हमारी समस्त अनुभूतियों को स्पंदित करता है। उससे हमारे जीवन में आनन्द की सृष्टि होती है। उसमें व्यंग-वाण का आघात नहीं रहता। करुण रस में जब उसका परिपाक होता है तब उसकी गंभीरता और भी बढ़ जाती है। यही कारण है कि हमारे साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में हास्य को विशेष स्थान मिला है। यदि प्रत्येक साहित्य की छानबीन की जाय तो पता चलेगा कि उन सबमें हास्य का समावेश हुआ है और सफलतापूर्वक हुआ है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, जीवन-चरित्र, निबन्ध आदि साहित्य के जितने प्रमुख अङ्ग हैं उनमें

देश, काल और पात्र के अनुसार हास्य-लेखकों ने अपनी बुद्धि का कौशल दिखाया है।

कहा जाता है कि जर्मन-निवासियों तथा नाजियों में हास्य-प्रियता की मात्रा कम होती है। नाजियों के सम्बन्ध में यह कथन सत्य हो सकता है। अभी थोड़े दिन हुए उन्होंने अपने देश में ऐसे सभी सुखान्त नाटकों पर रोक लगा दी थी जिनका प्रदर्शन शराबखानों में होता था और जो वर्तमान सरकार की खिल्ली उड़ाया करते थे। साहित्यिक दृष्टि से उनका यह कार्य निन्दनीय भले ही कहा जाय, पर राजनीतिक दृष्टि से तो यह उचित ही कहा जायगा। जर्मन-निवासियों में हास्य का सर्वथा अभाव हो, ऐसी बात सहसा समझ में नहीं आती। जेनरल गोरिंग इसी जर्मनी के प्रसिद्ध राजनीतिक नेता थे। उन्होंने अपने राजकीय जीवन के संस्मरणों में लिखा है कि 'जब राष्ट्र के जीवन से हास्य-भावना का लोप हो जाता है तब उसके आध्यात्मिक कल्याण में बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। जनरल गोरिंग का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे हास्य की साहित्यिक उत्कृष्टता सिद्ध होती है। इससे यह पता चलता है कि जीवन के आध्यात्मिक विकास के लिए हास्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। मारगन महोदय ने अपने नाटक 'दि फ्लैशिंग स्ट्रीम' की भूमिका में जनरल गोरिंग के मत का विरोध करते हुए लिखा है—'हास्य ऐसा आध्यात्मिक रोग है जो राष्ट्र के जीवन के आध्यात्मिक विकास में अपने दोषों के कारण बाधक होता है और उसके कल्याण के मार्ग में रोड़े अटकाता है। जिस प्रकार धुन्ध सूर्य के प्रकाश की अवहेलना करता है उसी प्रकार हास्य का ज्ञान, जिससे हमारा जीवन अनुशासित होता है, हमारी अनुभूतियों, हमारी कल्पना-शक्ति और हमारे आध्यात्मिक सौंदर्य का तिरस्कार करता है। हास्य ने दुखान्त नाटकों की सृष्टि में बाधा पहुँचायी है, वाद-विवाद के अवसरों पर वाकपटुता का हनन किया है, और हमारी युद्ध-प्रियता पर चोट की है। उसने हमारे जीवन के प्रत्येक भाव-स्फुलिंग पर तुषारपात किया है और कला, प्रेम, कर्तव्य तथा

विश्वास पर रोक लगायी है। वह प्रतिभा का उपहास करता है, मानव-आत्मा के प्रति सामान्य घृणा के भावों का प्रचार करता है, हमारी दृष्टि पर पर्दा डालता है और सन्तों की खिल्ली उड़ाता है।'

मार्गन महोदय ने हास्य की जो तीव्र आलोचना की है उससे अधिक कोई क्या कह सकता है। हास्य पर उनके जो आक्षेप हैं उनका कारण यह है कि उन्होंने हास्य और व्यंग को एक-दूसरे का पर्यायवाची मान लिया है। वास्तव में वह कटु व्यंग के विरोधी हैं। हास्य में जो परिहास अथवा व्यंग-तत्त्व होता है उसी की उन्होंने जी खोलकर भर्त्सना की है। पर क्या हास्य में व्यंग-तत्त्व की उपेक्षा की जा सकती है? इसमें सन्देह नहीं कि *हास्य में व्यंग-तत्त्व की अत्यधिक प्रधानता* होने से उसका आनन्द नष्ट हो जाता है और वह विकृत रूप धारण कर लेता है, पर इससे साहित्य तथा जीवन में उसका महत्त्व नहीं घटता। ऐसे हास्य-लेखकों से समाज, देश और विश्व का बहुत उपकार हुआ है जिन्होंने उन लोगों पर व्यंग किया है जो वास्तव में व्यंग के पात्र रहे हैं। द्रोपदी का व्यंग-वाण ही महाभारत की रचना का कारण है। साहित्य के विकास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है। यूनानी साहित्य में सुकरात का जो महत्त्व है वह अरिस्टोफेन्स के व्यंगों के कारण ही है।

वास्तव में मानव-मस्तिष्क इतना रहस्यमय और विचित्र है कि वह जिस समय किसी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा के भाव व्यक्त करता है, उसी समय वह उसका उपहास करने में भी समर्थ हो सकता है। आजकल समाचार-पत्रों में बड़े-बड़े नेताओं के जो व्यंग-चित्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं उनका यह तात्पर्य नहीं है कि उन नेताओं के प्रति कलाकार के हृदय में घृणा के भाव उदय हो गये हैं। कवियों, लेखकों, कलाकारों, महात्माओं और सन्तों पर जो व्यंग किये जाते हैं उनमें उपहास की प्रवृत्ति अवश्य रहती है, पर वे तिरस्कार अथवा घृणा के सूचक नहीं होते। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य के विविध अंगों—काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, रेखा-चित्र, भाव-चित्र आदि में हास्य और व्यंग को स्थान मिला

है और जिनके संबंध में व्यंग किया है उनका सम्मान बढ़ा है, घटा नहीं। यदि मार्गन महोदय के आक्षेप में किंचित् सत्यता होती तो साहित्य में न तो प्रहसनों का सृजन होता और न पैरोडी की ही सृष्टि। सूर ने राधा और कृष्ण पर व्यंग किये हैं और तुलसी ने विध्य के तपस्वियों का मजाक उड़ाया है। शेख, मुल्ला, पादरी, जाहिद, रिन्द और पोप सभी व्यंग के पात्र रहे हैं। हास्य रस के देवता प्रमथ भी कवियों से नहीं बच सके हैं। कहानियों, कविताओं तथा अन्य साहित्यिक रचनाओं में ईश्वर तक की खबर ली गयी है और उन पर कटु व्यंग किये गये हैं।

व्यंग का प्रभाव अच्छा और बुरा दोनों प्रकार का होता है। वह व्यंग अच्छा और हितकर होता है जिसका सम्बन्ध सामान्य ज्ञान से होता है और जिसमें शुद्ध हास्य की प्रतिष्ठा होती है। वस्तुतः व्यंग शुद्ध हृदय की उपज होनी चाहिए। जहाँ उसमें अश्रद्धा का भाव आया वहीं वह घातक और भयानक हो जाता है। प्रत्येक साहित्य में देवी-देवताओं और महान् पुरुषों तथा सन्तों के प्रति जो व्यंग किये गये हैं उनमें श्रद्धा और आस्था का भाव बराबर बना हुआ है। इसलिए उन्हें सुनकर और पढ़कर हम प्रसन्न होते हैं, घृणा के भाव से उद्वेलित नहीं होते। व्यंग में सुधार की प्रवृत्ति होती है। उर्दू के कवि अकबर ने अपने काव्य में मिसों, शेखों, शिक्षित नारियों और अँगरेजी सभ्यता में पले हुए भारतीय बाबुओं का जो मजाक उड़ाया है उसे पढ़कर किसको हँसी नहीं आती! इससे स्पष्ट है कि साहित्य के प्रत्येक अंग में हास्य और व्यंग का महत्त्व है और बराबर बना रहेगा।

साहित्य में हास्य और व्यंग का महत्त्व स्वीकार करने पर प्रहसन का महत्त्व स्वयं सिद्ध हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रहसन-रचना में अनेक बाधाएँ मिलती हैं, पर उन बाधाओं के रहते हुए भी प्रत्येक साहित्य में उसकी रचना हुई है और भविष्य में भी होगी। उसकी रचना द्वारा जीवन और साहित्य की जिस आवश्यकता की पूर्ति होती है वह अन्य किसी साधन-द्वारा हो ही नहीं सकती।

: ८ :

रंगमंच और रंगमंचीय नाटक

रंगमंच और नाटक का सम्बन्ध

नाटक अभिनय-कला प्रधान एक साहित्यिक कृति है। उसमें अभिनय ही एक ऐसा तत्त्व है जो उसकी संज्ञा, उसके नाम को सार्थक करता है। अभिनय को नाटक से निकाल दीजिए, नाटक नाटक नहीं रह जायगा। नाटक और अभिनय, दोनों सापेक्ष हैं। नाटक अभिनय की और अभिनय नाटक की अपेक्षा रखता है। नाटक से अभिनय-तत्त्व पृथक् नहीं किया जा सकता। नाटक की उत्कृष्टता और उसकी सफलता का निर्णय अभिनय के ही अधीन रहता है। यदि नाटक अपने अभिनय में सफल है तो वह एक उत्कृष्ट साहित्यिक रचना है, अन्यथा साहित्य में उसका कोई मूल्य नहीं है। अभिनय के लिए रंगमंच की आवश्यकता है। बिना रंगमंच के अभिनय और बिना अभिनय के नाटक दोनों व्यर्थ है, निष्प्रयोजन है। रंगमंच अभिनय की और अभिनय नाटक की प्रतिष्ठा करता है। इस प्रकार नाटक और अभिनय में जो अन्योन्याश्रित संबंध है उसे रंगमंच ही सार्थक करता है। जो नाटक खेले जाने पर अपना बहुत-सा सौंदर्य खो देते हैं वे साहित्यिक दृष्टि से भले ही उत्कृष्ट हों, अच्छे नाटकों की श्रेणी में रखने के सर्वथा अनुपयुक्त हैं। वही नाटक वास्तव में नाटक है जो मंच पर खेला जा सके, जो अपने अभिनय-द्वारा रंगशाला में बैठे हुए दर्शकों का मनोरंजन और उनकी कुरुचि का परिमार्जन और संस्कार कर सके। यदि नाटक अपने इस उद्देश्य को चरितार्थ नहीं कर सकता तो वह साहित्य की अमर सम्पत्ति भी नहीं रह सकता। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' को साहित्य और जन-जीवन में जो अमरत्व प्राप्त है वह केवल इस कारण नहीं कि उसका कथानक हमारे

देश के एक ऐसे महापुरुष से सम्बन्धित है जो हमारी श्रद्धा का पात्र है, वरन् इसलिए कि वह रंगमंच पर खरा उतरता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हम नाटक-रचना में रंगमंच की उपेक्षा नहीं कर सकते। पर इसके विरुद्ध नाटककारों का एक ऐसा दल भी है जिसका यह विश्वास है कि रंगमंच की दृष्टि से लिखे जानेवाले नाटक कभी साहित्यिक हो ही नहीं सकते। इस दल के नाटककारों का आक्षेप अधिकांश नाटकीय कथोपकथन की भाषा पर होता है। उनका कहना है कि नाटक की भाषा बोलचाल की भाषा होती है और बोलचाल की भाषा से साहित्य का शृंगार नहीं हो सकता। साहित्यिक भाषा मानसिक श्रम-साध्य होती है। इसलिए जब रंगमंच पर उसका प्रयोग होता है तब वह जीवन की साधारण भाषा से दूर हो जाती है और उसके शब्द तथा वाक्य उपहास्यास्पद और अनाटकीय हो जाते हैं। ऐसा ही रंगमंच-विरोधी एक दल उन नाटककारों का भी है जो नाटकीय कथोपकथन की भाषा पर आक्षेप तो नहीं करते, पर यह अवश्य कहते हैं कि नाटककार के लिए दर्शकों का कोई महत्त्व नहीं है। दर्शकों और मंच की आवश्यकताओं का ध्यान मंच-संचालक को होना चाहिए, न कि नाटककार को। नाटककार को इन झंझटों से क्या मतलब? वह तो कलाकार है, भावनाओं का चित्रकार है। उसकी कला आत्म-प्रकाशन के लिए है, न कि रंगमंच के लिए। वह जो लिखता है, 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है। इन दोनों मतों से मेरा स्पष्ट विरोध है।

नाटकीय कथोपकथन की भाषा के आधार पर जो नाटककार रंगमंच का विरोध करते हैं उनके सामने व्यावसायिक नाटक कम्पनियों की भाषा का आदर्श है। उसी से प्रभावित होकर उन्होंने यह समझ लिया है कि नाटकीय कथोपकथन में साहित्यिक भाषा का प्रयोग नहीं हो सकता। यह तर्क हिन्दी-नाटकों के संबन्ध में ही नहीं, अन्य भाषाओं के नाटकों के सम्बन्ध में भी खरा उतर सकता है। नाटकीय कथोकथन की भाषा व्यावसायिक कम्पनियाँ ही बिगाड़ती हैं। वे उसमें 'बाजारूपन'

लाती हैं और उसे साहित्य के उच्च स्तर से नीचे गिरा देती हैं। नाटकीय कथोपकथन में बोलचाल की भाषा का प्रयोग करने के कारण नाटक के जो दो वर्ग—साहित्यिक और असाहित्यिक—हो जाते हैं उसका एक कारण जनता में शिक्षा का अभाव भी हो सकता है। ऐसी दशा में ज्यों-ज्यों जनता शिक्षित होती जायगी, त्यों-त्यों उसकी भाषा में साहित्यिकता आती जायगी और वह साहित्यिक नाटकों के संवाद की भाषा को समझने में समर्थ होगी। हिन्दी में राधेश्याम के नाटक व्यावसायिक कंपनियों के लिए लिखे गये हैं। वे हिन्दी-रंगमंच की शोभा नहीं बढ़ा सकते। उनकी भाषा में 'बाजारूपन' है। व्यावसायिक कम्पनियों के रंगमंच के लिए ऐसी ही भाषा का प्रयोग होता है और वह भी विशेषतः उस समय जब दर्शकों की भाषा-सम्बन्धी अभिरुचि विकृत होती है। राधेश्याम साहित्यिक नाटककार नहीं थे। यदि वह माखनलाल चतुर्वेदी, जयशंकर प्रसाद अथवा लक्ष्मीनारायण मिश्र की कोटि के नाटककार होते तो कभी अपनी भाषा को साहित्य के उच्चस्तर से इतने नीचे न गिराते। हिन्दी में राधेश्याम का युग समाप्त हो गया है और अब ऐसे नाटक लिखे गये हैं जो भाषा की दृष्टि से साहित्यिक और रंगमंच की दृष्टि से अत्यन्त सफल हैं। इसलिए यह कहना है कि रंगमंच की शोभा बढ़ानेवाले नाटकों में साहित्यिक भाषा का प्रयोग हो ही नहीं सकता—सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।

अब उस वर्ग के नाटककारों के मत पर विचार कीजिए जो 'स्वांतः सुखाय' अर्थात् केवल अपने सुख के लिए नाटक की रचना करते हैं। हम बता चुके हैं कि नाटक सामाजिकों का साहित्य है। उसमें जीवन की समस्त प्रवृत्तियाँ नाटककार के मस्तिष्क से निचुड़कर, छनकर आती हैं और कला के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति के लिए छटपटाती रहती हैं। ऐसी दशा में रंगमंच ही उनके अभिव्यक्तीकरण का साधन हो सकता है। इस सम्बन्ध में डाक्टर रामकुमार वर्मा ने अपनी पुस्तक 'साहित्य समालोचना' में विलियम आर्चर का मत प्रस्तुत किया है।

विलियम आर्चर ने अपनी पुस्तक 'प्लेमेकिंग' में लिखा है—'जो कलाकार इसी तरह—अर्थात् रंगमंच और दर्शकों की उपेक्षा करके—सोचना पसन्द करते हैं उन्हें पूरा अधिकार है कि जिस प्रकार अपने नाटकों में—जो शायद ही नाटक कहे जा सकते हैं—अध्ययन या अभिनय-द्वारा आत्म-प्रदर्शन करें, परन्तु जो नाटककार वास्तव में आत्म-प्रदर्शन करना चाहता है उसे तो मंच की सहायता लेनी ही पड़ेगी। एक चित्रकार चाहे 'स्वान्तः सुखाय' चित्र बनाये, मूर्तिकार मूर्ति बनाये, गायनाचार्य गीत गाये, पर नाटककार बिना रंगमंच के आत्म-प्रदर्शन कर ही नहीं सकता। बिना रंगमंच के अस्तित्व के नाटक के कुछ मानी नहीं होते। वह जीवन का ऐसा प्रदर्शन है जो रंगमंच के वातावरण से ही हो सकता है, अन्य स्थान पर नहीं। इसीलिए तो उपन्यास और नाटक में भिन्नता है। एक का दिग्दर्शन हृदय पर होता है, दूसरे का रंगमंच पर।' विलियम आर्चर के इन शब्दों से यह सिद्ध है कि रंगमंच और नाटक का अभिन्न सम्बन्ध है। रंगमंच नाटक की शोभा बढ़ाता है और नाटक रंगमंच की। जब नाटककार नाटक की रचना करते समय इस सिद्धान्त और सम्बन्ध पर ध्यान रखते हैं तब नाटक और नाट्य-कला को विशेष प्रोत्साहन मिलता है और नाटककार अपने उद्देश्य में सफल होता है।

रंगमंच की उत्पत्ति

रंगमंच और नाटक के पारस्परिक सम्बन्ध की हमने अभी जो विवेचना की है उससे स्पष्ट हो जाता है कि नाटक की उत्पत्ति के साथ ही रंगमंच की उत्पत्ति हुई है। हमने नाटक की उत्पत्ति के दो आधार माने हैं—एक तो पौराणिक कथा के आधार पर और दूसरी अनुमान के आधार पर। रंगमंच की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी इन्हीं दोनों आधारों का सहारा लिया जाता है। हम पहले बता चुके हैं कि सत्युग के अन्त और त्रेता के आरम्भ में सब देवताओं के कहने से जब ब्रह्मा ने 'नाट्य वेद' की रचना की तब विश्वकर्मा ने रंगमंच का निर्माण किया। इस पौराणिक कथा में ऐतिहासिक सत्यता नहीं है, पर

इससे इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि नाटक की उत्पत्ति और उसके विकास के साथ-साथ रंगमंच की उत्पत्ति और उसका विकास हुआ है।

रंगमंच की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक मत और विचारणीय है और वह है अनुमान के आधार पर। मानव-सभ्यता की उत्तरोत्तर उन्नति में विश्वास करनेवाले विकासवादियों का कहना है कि नाटक की उत्पत्ति नृत्य से हुई है। उस समय जब मानव की वाक्-शक्ति का विकास नहीं हुआ था तब सुख के आवेग को उसने नृत्य-द्वारा ही व्यक्त किया होगा। आगे चलकर उस नृत्य में गति और लय की सुघरता आयी होगी। नृत्य में गति और लय आने के पश्चात् विशेष अवसरों पर नृत्य का आयोजन होता रहा होगा और देवताओं को प्रसन्न करने के लिए प्रार्थना के रूप में गीत भी गाये जाते रहे होंगे और उन गीतों के साथ वाद्यों का भी प्रयोग किया जाता रहा होगा। इन दो अवस्थाओं के पश्चात् धीरे-धीरे दिवंगत वीरों की जीवन-घटनाओं को भी उनके साथ मिला लिया गया होगा। इस प्रकार नृत्य, गीत और घटना के जोड़-मेल से उस समय के लोगों को मनोरंजन का एक साधन, मिल गया होगा। इसके बाद नाटक के जीवन में एक चौथी अवस्था आयी होगी और तब उसमें संवाद को भी स्थान मिल गया होगा। नृत्य + गीत + घटना + संवाद से नाटक का जो रूप आया होगा उसमें उस समय के कलाकारों ने अभिनय कला को भी स्थान दिया होगा और फिर कथानक के चुनाव में धार्मिक स्थलों और आकर्षक संवादों का विधान चल पड़ा होगा। ऐसा लगता है कि इसी के पश्चात् अशिक्षित लोगों के नाटक के ये पाँचों अपरिपक्व तत्त्व साहित्यकारों ने अपना लिये होंगे और उन्होंने उनमें संतुलन और सामंजस्य स्थापित करके उनको 'रस' के आश्रित कर दिया होगा। इस प्रकार नृत्य + गीत + घटना + संवाद + अभिनय + रस ने एक साथ मिलकर नाटक को जन्म दिया होगा। इसके बाद अन्य कलाकारों ने इन छः तत्त्वों के अंतरंग और बहिरंग में कला का प्रवेश करके

नाटक को साहित्य का एक विशिष्ट अंग बना दिया गया होगा और फिर इसके बाद रंगमंच की स्थापना हुई होगी।

विकासवाद के अनुसार नाटक की उत्पत्ति के उपर्युक्त सिद्धान्त से रंगमंच के विकास की स्पष्ट रेखाएँ हमारे सामने आ जाती हैं। आरंभ में उत्सव के विशेष अवसरों पर नृत्य और गायन खुले मैदानों में होते रहे होंगे। इसके पश्चात् जब उनके साथ घटनाओं का समावेश हुआ होगा तब किसी टीले अथवा देव-मन्दिर के ऊँचे चबूतरे पर रंगमंच का आयोजन हुआ होगा। इस प्रकार के प्रारंभिक रंगमंच उत्सव की महत्ता और आवश्यकता के अनुसार एक ही स्थान पर न होकर आज यहाँ तो कल वहाँ बनाये जाते रहे होंगे और उसमें दृश्यों का विधान करने के लिए कोई उपवन अथवा वाटिका को ही स्थान दिया जाता-रहा होगा। रंगमंच के विकास में अन्तिम स्थिति तब आयी होगी जब एक ही स्थान पर नाटक के विविध उपकरणों और साधनों को एकत्र कर कलात्मक अभिनय का कार्य संपन्न किया जाने लगा होगा। इस प्रकार नाटक के विकास से रंगमंच का विकास और रंगमंच विकास से नाटक का विकास हुआ होगा। रंगमंच के विकास की यह कहानी अनुमान पर ही आधारित है, परन्तु इससे दो बातें सिद्ध हैं—एक तो यह कि नाटक के साथ-साथ रंगमंच का विकास हुआ है और दूसरी यह कि नाटक में जीवन की वास्तविक घटना को जो कल्पनात्मक रूप दिया जाता है उसकी सत्ता रंगमंच-द्वारा ही प्रमाणित होती है।

संस्कृत-रंगमंच की रूपरेखा

आधुनिक खोजों से पता चलता है कि वैदिक काल में रूपक के बीज चारों वेदों में थे जिनका उपयोग मनोरंजन के लिए ऋतु-परिवर्तन, वीर-पूजा तथा अन्य उत्सवों पर होता था। कालान्तर में लोक-धारा की इस नाट्य-परम्परा के आधार पर ऋग्वेद से कथोपकथन, सामवेद से गायन, अथर्वण से रस और यजुर्वेद से अभिनय लेकर एक स्वतंत्र पंचमवेद—नाट्यवेद—की रचना की गयी और उसके साथ-साथ

रंगमंच की प्रतिष्ठा हुई। संभव है, इसी निर्माण-काल में पुत्तलिका-नृत्य की उत्पत्ति हुई हो और उससे भी रूपक-रचना को प्रेरणा मिली हो। जो भी हो, इससे यह सिद्ध है कि सत्ययुग के अन्त और त्रेता युग के आरंभ तक संस्कृत-नाट्य-कला अपने विकास पर थी और उसके उपयुक्त रंगमंच का निर्माण हो चुका था तथा भरत मुनि उसके प्रथम आचार्य थे। उन्होंने अपने नाट्य-शास्त्र में रंगमंच, अभिनेता, प्रेक्षक तथा रूपक-रचना के अन्य उपकरणों की विशद व्याख्या की है।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रेक्षा-गृह अर्थात् रंगशालाएँ तीन प्रकार की होती थीं (१) विकृष्ट, (२) चतुरस्र और (३) त्र्यस्र। इन तीनों प्रकार की रंगशालाओं में से प्रत्येक के ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ—तीन-तीन भेद और होते थे। भरत मुनि ने इनमें से प्रत्येक की उपयोगिता का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। विकृष्ट प्रेक्षा-गृह आयताकार होता था। इसकी लम्बाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ होती थी। यह केवल देवताओं के लिए बनाया जाता था। यही सबसे अच्छा प्रेक्षा-गृह होता था। इससे घटकर था चतुरस्र। यह वर्गाकार होता था और इसकी लम्बाई-चौड़ाई १०८ हाथ होती थी। यह राजाओं तथा धनवानों आदि के लिए बनाया जाता था। त्र्यस्र त्रिभुजाकार होता था। इसकी तीनों भुजाएँ ३२ हाथ लम्बी होती थीं। यह निकृष्ट माना जाता था। इसमें आपस के थोड़े से मित्र आदि बैठकर अभिनय देखते थे। इन सभी प्रकार के प्रेक्षा-गृहों का आधा भाग रंगमंच और शेष आधा भाग दर्शकों के लिए रहता था। दर्शकों के भाग में पूर्व दिशा की ओर एक द्वार रहता था जिससे वे आ-जा सकें। पश्चिम ओर के अर्द्ध भाग में रंगमंच रहता था। रंगमंच के तीन भाग होते थे—(१) रंगशीर्ष, (२) नेपथ्य और (३) रंगपीठ।

रंगमंच का पिछला आधा भाग नेपथ्य के लिए निश्चित था। शेष आधे में दो भाग होते थे जिनमें से नेपथ्य के पास के भाग में रंगशीर्ष होता था। रंगशीर्ष के दाहिने-बाएँ एक-एक कक्ष होता था।

रंगशीर्ष के बाद रंगपीठ होता था। यह दर्शकों के सामने रहता था। इसके दाहिने-बाएँ एक-एक कक्ष होता था। नेपथ्य और रंगपीठ के बीच में एक स्थायी दीवार होती थी जिस पर अनेक प्रकार के सुन्दर चित्र बनाये जाते थे। इन चित्रों से रंगशीर्ष पर अभिनीत होनेवाले दृश्यों की पृष्ठभूमि का काम लिया जाता था। रंगशीर्ष के कक्षों में नेपथ्य से आने के लिए दो द्वार होते थे। कक्ष और रंगशीर्ष के मध्य में प्रत्येक दिशा की ओर तीन-तीन स्तंभ रहते थे। इस प्रकार यह कक्ष मूल रंगशीर्ष से पृथक् हो जाता था। इन कक्षों से रंगशीर्ष पर आने के लिए प्रत्येक में एक द्वार होता था। नेपथ्य से रंगशीर्ष और रंगशीर्ष से रंगपीठ कुछ ऊँचे स्तर पर होता था। नेपथ्य का उपयोग वेश-भूषा आदि अन्य कार्यों के लिए होता था।

रंगशीर्ष और रंगपीठ के बीच में एक अस्थायी पर्दा रहता था। कक्ष पर भी पर्दे होते थे। रंगपीठ का पर्दा उठता-गिरता रहता था। इसके ऊपर आधुनिक गैलरी की भाँति मत्तवारणी होती थी। यह हाथी की अंबारी के समान होती थी जो आठ चित्रित स्तम्भों पर बनायी जाती थी। इसके नीचे का भाग कक्ष के काम में आता था। इससे आकाश मार्ग के दृश्य दिखाये जाते थे। रंगपीठ के सामने भी पर्दा रहता था। पर्दे नाटक के अनुकूल होते थे। संगीतज्ञों के बैठने के लिए रंगशीर्ष के कक्ष-द्वारों के निकट स्थान रहता था।

रंगशाला के प्रबन्ध की भी उचित व्यवस्था थी। भारत प्रधान संचालक होता था। सूत्रधार निर्देशक का कार्य करता था। नट के अधीन रिहर्सल का काम रहता था। तौरिय संगीत आदि का प्रबंध करता था। वेषकर पात्रों की सजावट करता था। मुकुट-कृत मुकुट आदि, आभरण-कृत सब प्रकार के आभरण और माल्य-कृत मालाएँ बनाता था। चित्रज्ञ पर्दों पर चित्रकारी करता था और रजक वस्त्रों की रँगाई तथा धुलाई करता था।

सार्वजनिक रंगशालाओं में दर्शकों के बैठने का उचित प्रबन्ध

था। ब्राह्मण आगे बैठते थे। उनके स्थान का संकेत-सूचक श्वेत स्तंभ होता था। ब्राह्मणों के पीछे क्षत्रिय बैठते थे, जिनके स्थान का संकेत-सूचक लाल स्तंभ होता था। क्षत्रियों के उत्तर-पश्चिम में वैश्य और उत्तर-पूर्व में शूद्र बैठते थे जिनके संकेत-स्तंभ क्रमशः पीले और नीले होते थे। नाटक के वातावरण को स्वच्छ रखने के लिए विधर्मी, पतित रोगी, अरसिक, गंदे दर्शकों पर प्रतिबन्ध रहता था। अभिनय के संबंध में निर्णय देने के लिए सभापति होता था।

प्रेक्षा-गृहों के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उनके द्वारा केवल नृत्य, संगीत, वास्तुकला और ज्यामिति को ही प्रश्रय नहीं मिला, वरन् अमूर्त भावनाओं को मूर्त रूप देने में भी बड़ी सहायता मिली और इस प्रकार नाट्य-कला पवित्र सलिला भागीरथी के रूप में हमारे ऐहिक सुखों की अभिवृद्धि और हमारी मानसिक प्रवृत्तियों के प्रसार में सहायक हो सकी।

जन-रंगमंच का विकास

संस्कृत-परम्परा की रंगशालाओं का कब और कैसे ह्रास हुआ—यह खोज का विषय है। ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में ऐसा प्रतीत होता है कि जब संस्कृत केवल विशिष्ट समुदाय की भाषा बन गयी और उसका स्थान प्राकृत आदि अन्य भाषाओं ने ले लिया, तब उस परम्परा की रंगशालाएँ भी निष्प्राण हो गयीं। बौद्ध-काल में रङ्गशालाएँ थीं अवश्य, पर उन्हें उस युग में विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। मौर्य-काल तथा गुप्त-काल में भी उनका क्षेत्र सीमित ही रहा। उनके द्वारा केवल राजाओं और उच्च शिक्षित वर्ग के लोगों का ही मनोरंजन हो सका, लोक-जीवन से उनका विशेष संपर्क नहीं रहा। नाटक थे, नाटककार थे, नये-नये नाटकों का प्रणयन भी होता था, नाटक के लक्षण-ग्रंथ भी लिखे जाते थे, अभिनय भी होते थे, पर यह सब कार्य एक सीमा के भीतर ही होता था। इस प्रकार नाट्य-कला धीरे-धीरे अपना प्राण खोती जा रही थी। ईसा की सातवीं शताब्दी में हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् जब भारतीय

राजनीतिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया और मुसलमानी आक्रमण होने लगे तब उस कलह-प्रधान युग में नाट्य-कला के प्रदर्शन के लिए, विशेषतः उत्तर भारत में, कहीं भी स्थान न रह गया। बौद्ध कालीन दार्शनिक चेतना तथा मुसलिम-कालीन मानसिक हलचल से इस कला को विशेष ठेस लगी। मुगल-साम्राज्य की स्थापना होने पर संगीत, चित्र कला, वास्तु कला तथा अन्य प्रकार की ललित कलाओं को तो प्रोत्साहन मिला, पर नाट्य-कला की स्थिति पूर्ववत् ही बनी रही।

हम बता चुके हैं कि मनोरंजन की प्रवृत्ति ही नाटकों की उत्पत्ति का कारण है। भारतीय जनता की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति को मुसलिम युग का एकांगी और कठोर शासन भी न दबा सका। प्राचीन युगों में नाटक शिष्ट समुदाय के मनोरञ्जन का एक विशिष्ट साधन था। मुसलिम-युग में इसका स्थान ग्रामीण जनता के बीच रूपक के कुछ हीन भेदों ने ले लिया। इतिहास से पता चलता है कि उस समय साधारण जनता में उत्सवों के अवसर पर स्वांग, नकल, कठपुतलियों का तमाशा, छाया चित्र, रामलीला और रासलीला का अधिक प्रचार था। अकबर के समय में रासलीलाएँ होती थीं। उनमें मनसुखा हास्य की सृष्टि करने में दक्ष होता था। बङ्गाल में यात्रा का प्रचलन था। इन लीलाओं के प्रति तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों का विशेष आकर्षण था। साधारण जनता 'सांग' देखती थी। इन्हीं के साथ-साथ अन्य प्रकार के खेल भी होते थे। मनोरञ्जन के इन साधनों का प्रदर्शन खुले स्थान में ही होता था। उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भागों में नौटंकियाँ होती थीं। इनके लिए रंगमंच की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इनके अतिरिक्त आश्विन में कुछ कथाएँ नाटक के रूप में भी दिखायी जाती थीं। इस प्रकार मुगल-साम्राज्य के अवनति-काल में धीरे-धीरे जनता की रुचि नाट्य-कला के विकास की ओर हो चली थी। इसे हम जन-रंगमंच के विकास का प्रथम उत्थान-काल कह सकते हैं।

मुगल साम्राज्य का अन्त होने पर जब भारत के राजनीतिक जीवन

में अँगरेजों का प्रादुर्भाव हुआ तब एक बार फिर मानसिक क्रांति उत्पन्न हुई जिसने तत्कालीन जन-मनोवृत्ति और साहित्य में कल्पनातीत परिवर्तन कर दिया। इस परिवर्तन के फलस्वरूप साहित्य में एक बार फिर नाटक को प्रतिष्ठा मिली। सं० १६१० में अमानत खाँ ने 'इन्दर-सभा' की रचना की और लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह की आज्ञा से इसका प्रथम बार अभिनय कैसरबाग में हुआ। यह इतना पसंद किया गया कि इसी के आधार पर मदारीलाल ने एक दूसरी 'इन्दर-सभा' लिखी। इसके एक वर्ष पश्चात् 'नाटक छैल बटाऊ मोहनारानी' लिखा गया। 'बन्दर-सभा' और 'मुछन्दर-सभा' का भी प्रणयन इसी समय हुआ। इस प्रकार जन-रंगमंच की एक रूप-रेखा सामने आ गयी। इसे हम जन-रंगमंच के विकास का द्वितीय उत्थान-काल कह सकते हैं।

जन-रङ्गमंच के विकास का तृतीय उत्थान-काल पारसी थियेटरों से आरम्भ होता है। पारसी कम्पनियों की उत्पत्ति सहसा नहीं हुई। उनके पहले भारत में रङ्गमंच की स्थापना हो चुकी थी। सं० १६१४ के प्लासी युद्ध के पूर्व कलकत्ता में अँगरेजी-रङ्गमंच स्थापित हो चुका था। बम्बई में भी अँगरेजी-रङ्गमंच था। सं० १८६६ में जगन्नाथ-शंकरनाथ ने अपना निजी थियेटर बनाया था। कलकत्ता की अपेक्षा बम्बई में रंगमंच की अधिक लोकप्रियता थी। यह देखकर पारसियों का ध्यान उसकी ओर गया और उन्होंने उसे अपने व्यापार का साधन बना लिया। सं० १६२७ के आस-पास सेठ पेस्टनजी फ्रेमजी ने 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' खोली और इसके पश्चात् ही बालीवाला की 'विक्टोरिया नाटक कंपनी', कावसजी की 'अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी', न्यू अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी, शेक्सपियर थियेट्रिकल कम्पनी, श्री सूर्यविजय, व्याकुल भारत आदि ने जन्म लिया। इन कम्पनियों ने कोई कलापूर्ण नाटक अथवा प्रसिद्ध नाटककार हमें नहीं दिया, परन्तु उन्होंने हमें एक अत्यंत उपयोगी वस्तु, रङ्गमंच, अवश्य दिया। उस समय रङ्गमंच हमारे लिए

एक अनोखी वस्तु थी। हम उसकी रूप-रेखा से भलीभाँति परिचित नहीं थे। हमने रामलीला, रासलीला, नौटंकी आदि के रङ्गमंच देखे थे। थियेट्रिकल कम्पनियों ने हमारा वह भ्रम दूर किया और अँगरेजी रङ्गमंच को भारतीय रङ्गमंच के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया। उनके रङ्गमंच अस्थायी होते थे। रङ्गमंच के इन रूपों से हिन्दी के तत्कालीन साहित्यकारों को विशेष प्रेरणा मिली। उनका ध्यान नाटक-रचना की ओर आकृष्ट हुआ। संस्कृत और अँगरेजी के कई नाटकों के हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित हुए। गुजरात, महाराष्ट्र, बम्बई और कलकत्ता में रङ्गमंचों की स्थापना हो चुकी थी। हिन्दी-जगत् का अपना रङ्गमंच नहीं था।

जन-रङ्गमंचीय नाटक

हिन्दी-रङ्गमंच के अभाव में जन-रङ्गमंचीय नाटकों को प्रोत्साहन मिलना स्वाभाविक ही था। जिन व्यवसायी नाटक कम्पनियों ने नगरों में घूम-घूमकर जनता का मनोरंजन किया उनके अपने-अपने नाटक और नाटककार थे। उर्दू-भाषा का लालित्य उस समय लोगों के हृदय पर जमा हुआ था। इसलिए पारसी-कंपनियों के नाटककारों ने उसी भाषा में अपने-अपने नाटकों की रचना की। ऐसे नाटककारों में उन्हीं लोगों को स्थान मिला जो उर्दू भाषा और साहित्य के पंडित थे। मोहम्मद मियाँ 'रौनक' बनारसी और हुसेनमियाँ 'जरीफ़' के नाटकों की उस समय बड़ी धूम थी। 'रौनक' साहब का 'इन्साफे-महमूद' तो इतना लोकप्रिय हुआ कि वह गुजराती लिपि में मुद्रित हुआ। 'जरीफ़' ने लगभग ३० नाटक लिखे जिनमें से 'नतीजए अस्मत', 'चाँद बीबी', 'शीरीं-फरहाद', 'लैला मजनूँ', 'गुल बकावली', 'अलीबाबा', 'बदरेमुनीर' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी के प्रमुख नाटककार मुंशी विनायक प्रसाद 'तालिब' बनारसी थे। उनके उर्दू-नाटकों में 'लैलोनिहार' 'निगाहे गफलत' आदि बहुत प्रसिद्ध हुए। 'गोपीचन्द', 'हरिश्चंद्र', 'रामायण', 'कनकतारा' आदि की रचना भी उन्होंने की। इन नाटकों की भाषा पर हिन्दी का विशेष प्रभाव पड़ा। कावसजी की

एलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी के नाटककार थे—सैयद मेहदी हसन 'अहसान' लखनवी और पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' देहलवी। 'अहसान' ने कुछ मौलिक नाटक लिखे और शेक्सपियर के कई नाटकों का अनुवाद किया। 'चन्द्रावली', 'बकावली', 'दिलफरोश', 'गुलफरोश' आदि उनकी अच्छी कृतियाँ समझी जाती हैं। 'बेताब' के उर्दू-नाटकों में 'जहरी-साँप', 'फरेबे मुहब्बत' आदि का स्थान है। उन्होंने हिंदी-नाटक भी लिखे जिनमें 'महाभारत', 'रामायण', 'गोरख-धंधा', 'कृष्ण-सुदामा' आदि विशेष रूप से लोकप्रिय हुए। वास्तव में इन्हीं नाटकों की लोकप्रियता ने 'बेताब' को बेताब बनाया। इससे स्पष्ट है कि लोक-रुचि धीरे-धीरे पौराणिक कथाओं और हिंदी की ओर उन्मुख हो रही थी। इस प्रकार की लोक-रुचि को पं० राधेश्याम कथावाचक की रचनाओं से विशेष संतोष हुआ। वह न्यू एलफ्रेड कम्पनी के नाटककार थे। उनके साथी आगा मोहम्मद 'हश्र' काश्मीरी भी अच्छे नाटककार थे। 'हश्र' ने कई उर्दू-नाटक लिखे जिनमें से 'खूबसूरत बला', 'सिलवर-किंग', 'शहीदेनाज़', 'तुर्की हूर' आदि को अधिक ख्याति मिली। हिंदी में भी उनके नाटक अच्छे उतरे। 'सूरदास', 'सीता-वनवास', 'आँख का नशा', 'श्रवणकुमार' आदि उनके हिंदी-नाटक बहुत पसंद किये गये। पं० राधेश्याम के हिंदी-नाटकों में 'वीर अभिमन्यु' को जो ख्याति मिली वह अन्य किसी नाटककार के नाटक को न मिल सकी। उनका 'ऊषा-अनिरुद्ध' भी बहुत लोकप्रिय हुआ। यह नाटक काठियावाड़ की सूर विजय कम्पनी के तत्त्वावधान में खेला गया था। इन नाटककारों के अतिरिक्त हाफिज मोहम्मद चितौरा 'फतेहपुरी', मिर्जा नजीर बेग अकबरा बादी, किशनचंद 'जेबा', तुलसीदत्त 'शैदा', हरिकृष्ण 'जौहर', श्रीकृष्ण 'हसरत' आदि भी अच्छे उर्दू-नाटककार थे।

पारसी-कंपनियों के लिए उपर्युक्त नाटकों के अध्ययन से हमारे सामने कई बातें स्पष्ट रूप से आती हैं। सबसे पहली बात तो यह कि उन नाटकों-द्वारा उर्दू-भाषा का विशेष प्रचार हुआ जिसके पीछे मुगल-

मान नाटककारों का विशेष हाथ था। उन्होंने पारसी रंगमंच से उर्दू भाषा का ही नहीं, फ़ारसी-साहित्य के उन चरित्रों को भी अपने नाटकों में प्रश्रय दिया जिनका हमारी संस्कृति और सभ्यता के साथ कोई लगाव नहीं था। दूसरी बात हमें यह देखने को मिली कि उन्होंने उर्दू-साहित्य के कुरुचिपूर्ण प्रेम को ही अपने कथानकों में प्रश्रय दिया। जीवन की उदात्त प्रवृत्तियाँ जिनसे लोक-रुचि का परिमार्जन और परिष्कार होता है उनकी ओर उनका ध्यान ही नहीं गया। उन्होंने अपने कथानकों में जनता की दूषित मनोवृत्ति को ही प्रश्रय दिया। तीसरी बात यह मिली कि उन्होंने हमारे पौराणिक पात्रों को बड़े ही भद्दे ढंग से हमारे सामने प्रस्तुत करके हमारी धार्मिक भावना को ठेस पहुँचायी। सीता, शकुन्तला, राम और कृष्ण को उन्होंने उर्दू-साहित्य के बाजारू प्रेम का आलंबन बनाया और हमसे ही उसकी दाद ली। इससे बढ़कर हमारी दूषित मनोवृत्ति का उदाहरण और कहाँ मिल सकता है? चौथी बात यह देखने में आयी कि उन्होंने अपने नाटकीय आदर्शों के प्रति जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिए अतिमानवीय तत्त्वों को अपने वस्तु-विधान में विशेष महत्त्व दिया जिसके फलस्वरूप उनका रंगमंच जीवन का वास्तविक प्रतिनिधि न होकर 'अजायब घर' बन गया। पाँचवीं बात नाटकों के गानों और नृत्य से सम्बन्ध रखती है। ऐसा लगता है कि गायन और नृत्य के आधार पर ही पारसी कम्पनियों के लिए नाटक लिखे जाते थे। उन नाटकों में अश्लील प्रेम की गजलें होती थीं और नृत्य तो इतने फूहड़ कि सभ्य स्त्री-पुरुष उन्हें देख ही नहीं सकते थे। ऐसी स्थिति में प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही था। पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' और पं० राधेश्याम कथावाचक ने प्रतिक्रिया के रूप में ही अपने-अपने नाटकों की रचना की। उन्होंने हिन्दी को प्रश्रय दिया और पौराणिक कथाओं को यथाशक्ति कुरुचिपूर्ण होने से बचाया। काठियावाड़ की 'श्री सूर्य विजय' और मेरठ की 'व्याकुल-भारत' नामक नाटक-मंडलियों का जन्म प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ। इन नाटक-

मंडलियों ने अपने नाटकों में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की विशेष रक्षा की और पारसी कम्पनियों के दूषित और व्यभिचारपूर्ण वातावरण से नाट्य-कला को निकालकर हिन्दी के स्वस्थ वातावरण में उपस्थित किया। मेरठ की 'व्याकुल-भारत' नाटक-मंडली ने हिंदी की विशेष सेवा की। उसने जन-रंगमंच को हिन्दी-रंगमंच बनाने में ही नहीं, अपितु हिन्दी नाटकों को देश-प्रेम की ओर भी आकृष्ट किया। नाट्य और नृत्य में भी सुधार हुआ। गजलों के स्थान पर ठुमरी, दादरा आदि को स्थान मिला। संस्कृत-नाट्य-परंपरा के अनुसार पूजन, प्रार्थना, नान्दीपाठ, सूत्रधार की भी योजना हुई। इस प्रकार हमारे सामने दो प्रकार की व्यवसायी कम्पनियाँ और दो प्रकार के नाटककार आये—एक तो ऐसी कम्पनियाँ जो जनता की दूषित मनोवृत्ति को प्रश्रय देती थीं और ऐसे नाटककार जो लोक-हित का ध्यान न करके उसी दूषित मनोवृत्ति को प्रोत्साहित करते थे और दूसरी ऐसी नाटक-मंडलियाँ जिनका उद्देश्य था जनता की धार्मिक, नैतिक तथा सांस्कृतिक भावनाओं की रक्षा करना और ऐसे नाटककार जो इस भावना को अपनी रचनाओं में प्रश्रय देकर जन-रुचि का परिष्कार करते थे। सामूहिक दृष्टि से विचार करने पर इन समस्त व्यवसायी कंपनियों में निम्नलिखित दोष थे :—

(१) कथानक की दृष्टि से व्यवसायी कम्पनियों के नाटक जीवन से बहुत दूर थे। अनैतिक प्रेम और अति मानवीय तत्त्वों के मेल के कारण उनकी स्वाभाविकता नष्ट हो गयी थी। वे अधिकांश जनता की सस्ती भावनाओं पर आश्रित थे। इसलिए जीवन के उठान की कोई योजना उनमें नहीं थी।

(२) व्यवसायी कंपनियों के नाटकों के कथानकों में विषय की विविधता नहीं थी। आशिक-माशूक, प्रेमी-प्रेमिका ही उनके कथानक के आधार थे। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याओं से वे सर्वथा शून्य थे।

(३) संवाद की दृष्टि से व्यवसायी कम्पनियों के नाटक कलाहीन थे।

गायन और नृत्य की अधिकता के कारण उनके संवाद अस्वाभाविक, अश्लील, अनैतिक, और कुरुचिपूर्ण होते थे।

(४) चरित्रचित्रण की दृष्टि से व्यवसायी कम्पनियों के नाटक बहुत ही निम्न कोटि के थे। उनके पात्र निष्प्राण और नाटककार के व्यक्तित्व से प्रभावित होते थे। उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे नाटककार के संकेतों पर ही अपने चरित्र का उद्‌घाटन करते थे। उनमें न तो सोचने की शक्ति थी और न स्वतंत्र रूप से कार्य करने की क्षमता। उनके पीछे नाटककार ही बोलता और कार्य करता हुआ दिखायी पड़ता था।

(५) नाट्य-कला की दृष्टि से भी व्यवसायी नाटक सर्वथा शून्य थे। उनके रचयिता उस वातावरण से आये थे जिसमें नाट्य-कला नाम की कोई वस्तु ही नहीं थी। इसलिए उन्हें नाटक के वास्तविक आदर्श और मूल्य का ज्ञान ही नहीं था। कला-सौंदर्य की सृष्टि के लिए जिस संयम और नियम-पालन की आवश्यकता है उससे वे शून्य थे। उन्होंने नाटकों की संख्या अवश्य बढ़ा दी थी, पर एक भी नाटक कला की कसौटी पर कसने योग्य नहीं था।

(६) उद्देश्य की दृष्टि से व्यवसायी कम्पनियों के नाटक निराशाजनक थे। यदि उनका एकमात्र उद्देश्य 'पैसा कमाना' कहा जाय तो अनुचित न होगा। वास्तव में उनकी रचना न तो नाट्य-साहित्य के विकास के लिए हुई थी और न तत्कालीन जनता की दूषित मनोवृत्ति के परिष्कार के लिए। उनके मूल में थी व्यवसायिक दृष्टि और इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली। इसीलिए जीवन का कोई आदर्श उनके द्वारा हमारे सामने नहीं आया।

उपर्युक्त दोषों से स्पष्ट है कि व्यवसायी नाटक हमारे लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सके। उन्होंने हमें रंगमंच नामकी एक ऐसी वस्तु अवश्य दी जिसे हम आगे चलकर अपना सके और आज उसी के आदर्श पर हम हिन्दी-रंगमंच के निर्माण की कल्पना करते हैं। इस दृष्टि से हम

व्यवसायी कम्पनियों के ऋणी हैं। यदि इसे हम निकाल दें तो उनके नाटक रद्दी की टोकरियों में फेंक देने योग्य हैं।

हिन्दी-रंगमंच की स्थापना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के आविर्भाव के समय भारतीय जनता अपनी सभ्यता एवं संस्कृति से शून्य थी। उसके सामने उस समय कोई अपना आदर्श नहीं था। उसकी मनोरंजन-प्रियता उसे और भी नीचे गिराये जा रही थी। पारसी-थियेट्रिकल कंपनियाँ व्यवसायी कंपनियाँ थीं। उनका एकमात्र उद्देश्य था—पैसा। पैसा कमाने के लोभ से उनके-द्वारा ऐसे ही नाटकों का प्रदर्शन होता था जो सांस्कृतिक स्तर से बहुत गिरे हुए होते थे। भारतेन्दु की संस्कृत-आत्मा ने इसे स्वीकार नहीं किया। ऐसी स्थिति में उन्होंने जनता की मनोरंजन-प्रवृत्ति का प्रसादन और परिष्कार करने के लिए स्वतंत्र रूप से हिन्दी-रंगमंच की व्यवस्था की। उनके समय में ऐश्वर्य नारायण सिंह के प्रयत्न से चैत्र शुक्ल ११, सं० १९२५ को बनारस थियेटर्स में पहली बार शीतलाप्रसाद-कृत 'जानकी मंगल'[1] का अभिनय हुआ। भारतेन्दु ने कई नाटक लिखे और उनके अभिनय में भी भाग लिया। इससे उनके समय में शिक्षित समुदाय के बीच हिन्दी-रंगमंच की प्रतिष्ठा बढ़ गयी और जन-रंगमंच से पृथक् उनकी सत्ता स्वीकार की जाने लगी।

काशी के अतिरिक्त कानपुर और प्रयाग में भी हिन्दी-नाटकों के अभिनय का आयोजन हुआ। पं० प्रतापनारायण मिश्र के समय में कानपुर में भारतेन्दु-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेरनगरी' के सफल अभिनय हुए। इनके अभिनय से साहित्यिक नाटकों का स्वरूप जनता के सामने अवश्य आया, पर व्यवसायी नाटक कंपनियों का जनता के हृदय पर इतना गहरा प्रभाव था कि हिन्दी के साहित्यिक नाटकों का यदाकदा अभिनय उस दूषित प्रभाव को दूर करने में समर्थ न हो सका। आवश्यकता थी अव्यवसायी को रूप से हिंदी-रंगमंच की लोकप्रियता बढ़ानेवाली नाटक-मंडलियों की। इस आवश्यकता की

पूर्ति प्रयाग ने की। प्रयाग में सं० १९५५ को रामलीला के अवसर पर 'श्री रामलीला नाटक-मंडली' की स्थापना हुई और सर्वप्रथम 'सीता-स्वयंवर' नाटक अभिनीत किया गया। इसमें महामना मालवीयजी भी उपस्थित थे। पं० माधव शुक्ल, पं० महादेव भट्ट तथा अल्मोड़ा-निवासी पं० गोपालदत्त त्रिपाठी ने इसके संचालन में बड़ा सहयोग दिया। सं० १९६४ तक यह मंडली बराबर अपना कार्य करती रही। इसके पश्चात् सं०१९६५ में पं० माधव शुक्ल ने इसे पुनः 'हिन्दी-नाट्य समिति' के नाम से स्थापित किया। इस बार इसमें दूना उत्साह आ गया और पं० बालकृष्ण भट्ट तथा श्री पुरुषोत्तमदास टंडन इसके सदस्य हो गये। इस समिति ने बाबू राधाकृष्णदास-कृत 'महाराणाप्रताप' का प्रथम बार अभिनय किया। इस नाटक का अभिनय देखने के लिए इसके लेखक स्वयं काशी से प्रयाग आये थे। इसमें हिन्दी के कई लेखकों ने बड़ी सफलतापूर्वक अभिनय किया था। इसी समिति ने बाबू श्यामसुन्दरदास की अध्यक्षता में प्रयाग में होनेवाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के छठे अधिवेशन के अवसर पर पं० माधव शुक्ल-कृत महाभारत (पूर्वार्द्ध) का अभिनय किया था।

प्रयाग की देखादेखी काशी में भी एक 'नागरी-नाट्य-कला प्रवर्तन मंडली' की स्थापना हुई। इसका उद्घाटन सं० १९६६ में हुआ। कुछ दिनों पश्चात् इसके दो भाग हो गये। एक का नाम 'काशी नागरी नाटक मंडली' पड़ा और दूसरी 'श्री भारतेन्दु नाटक मंडली' से मिल गयी। आरंभ में 'काशी नागरी नाटक मंडली' को बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं का सहयोग प्राप्त हुआ और कई नाटक खेले गये। इन खेलों से जो आर्थिक लाभ हुआ उससे बाढ़ अथवा दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सहायता भी की गयी। अपने जीवन-काल में इस मंडली ने बड़ा नाम पैदा किया। इसके अभिनेताओं में सर्वश्री राधाशंकर व्यास, दुर्गाप्रसाद शास्त्री, डा० श्यामसुन्दरदास, हरिदास माणिक, ठाकुरदास बी० ए०, एल-एल० बी० और लक्ष्मीनारायण शास्त्री आदि थे। इसी मंडली के समकक्ष 'श्री भारतेन्दु नाटक मंडली' थी। इसे भी अच्छे अभिनेताओं का सहयोग प्राप्त था। गोविन्द

शास्त्री-दुग्वेकर, डा० वीरेन्द्रनाथ दास, वीरेश्वर बनर्जी एम० एस-सी और रामचद्र मिश्र एम० ए०, एल० टी० के सहयोग से इसमें भी कई साहित्यिक नाटकों के अभिनय हुए। चौथी उल्लेखनीय नाटक मंडली कलकत्ते की 'हिन्दी-नाट्य-परिषद' थी। इसकी स्थापना प्रयाग के पं० माधवशुक्ल ने की थी। इसके अभिनेताओं में भी पर्याप्त प्रतिष्ठित व्यक्ति थे जिन्होंने समय-समय पर कई साहित्यिक नाटकों का अभिनय किया। इन अव्यव-सायी नाटक मंडलियों के अतिरिक्त हिन्दी-रंगमंच के विकास में मेरठ की व्यवसायी 'व्याकुल भारत नाटक मंडली' ने भी बहुत योग दिया।

अव्यवसायी रूप से भारतीय विश्व-विद्यालयों तथा अँगरेजी पाठ-शालाओं में भी हिन्दी के साहित्यिक नाटकों का अच्छा प्रचार हुआ। प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिन्दू बोर्डिंग हाउस-द्वारा प्रत्येक उपाधि-वित-रण-समारोह के अवसर पर हिन्दी-नाटकों का अभिनय होता था। काशी विश्वविद्यालय में भी ऐसे ही अवसरों पर छात्रों-द्वारा अभिनय होते थे। इनके अतिरिक्त विभिन्न साहित्य-समितियाँ भी हिन्दी-नाटकों का अभिनय करती थीं। विद्यार्थी-रंगमंच से द्विजेन्द्रलाल राय के प्रायः सभी नाटकों का अभिनय समय-समय पर होता रहता था। इससे हिन्दी-जनता में धीरे-धीरे साहित्यिक नाटकों के प्रति विशेष अनुराग उत्पन्न हुआ जिसके फलस्वरूप बड़े-बड़े विद्यालयों में भी हिन्दी-नाटक खेले जाने लगे। इस समय तक साहित्य-सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशनों तथा अन्य साहित्यिक समारोहों के अवसर पर प्रसाद तथा अन्य नाटककारों के कई नाटक बड़ी सफलतापूर्वक अभिनीत किये जा चुके हैं। पंतजी की 'ज्योत्स्ना' का भी अभिनय हो चुका है। इनके अतिरिक्त बेचनशर्मा उग्र, लक्ष्मी-नारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण 'प्रेमी', उदयशंकर भट्ट, डा० रामकुमार वर्मा, गोविन्दवल्लभ पंत, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि के भी नाटक खेले जा चुके हैं। वर्तमान युग में एकांकी नाटक लिखे जा रहे हैं और उनका भी सफल अभिनय हो रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्यों-त्यों जनता में शिक्षा का प्रचार

हुआ है और हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ी है त्यों-त्यों हिन्दी-रंगमंच के प्रति लोगों का आकर्षण हुआ है।

परन्तु इतना होते हुए भी अभी हिन्दी-रंगमंच को जन-जीवन के बीच वह सफलता नहीं मिली है जो व्यवसायी कंपनियों को प्राप्त थी। अभी हमारा हिन्दी-रंगमंच शिक्षित और शिष्ट लोगों के बीच से आगे नहीं बढ़ सका है। ऐसी दशा में हम वर्तमान हिन्दी-रंगमंच को 'गोष्ठी रंगमंच' ही कह सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान युग में चित्रपट के अधिक लोकप्रिय होने के कारण हिन्दी-रंगमंच के मार्ग में बाधाएँ आ गयी हैं; पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी-रंगमंच की अब आवश्यकता ही नहीं है। चित्रपट की अभिनय-कला पर आधुनिक विज्ञान का प्रभाव है। उसमें वह कला नहीं है जो साहित्य का शृंगार करती है। हिन्दी-नाट्य-साहित्य की अभि-वृद्धि और उसका विकास तो तभी सम्भव है जब उसका अपना रंगमंच होगा। प्रत्येक देश में एक-दो नहीं हजारों सिनेमा-घर हैं जिनसे जनता का मनोरंजन होता है। उन सिनेमा-घरों के होते हुए भी वहाँ नाट्यशालाओं की संख्या कम नहीं है। रूस इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ के प्रत्येक नगर में सिनेमा-घरों के रहते हुए भी नाट्य शालाएँ बनायी गयी हैं। बालकों के लिए अलग नाट्यशालाएँ हैं। इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रांस, जर्मनी, इटली, चीन, जापान आदि में भी नाट्यशालाओं की कमी नहीं है। यदि कहीं उसका अभाव है तो केवल भारत में और वह भी मुख्यतः हिन्दी-नाट्यशाला की। बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रांतों में अपनी-अपनी नाट्यशालाएँ हैं जहाँ से वे अपने नाटकों का प्रचार करती हैं। ऐसी दशा में हिन्दी की अपनी नाट्य-शाला होनी चाहिए। हिन्दी अब एक सीमित क्षेत्र की भाषा नहीं है, वह राष्ट्र-भाषा है। उसका यह व्यापक रूप वास्तव में तभी सार्थक होगा जब भारत के प्रत्येक प्रान्त और प्रत्येक नगर में हिन्दी-नाट्यशालाओं की स्थापना होगी। हिन्दी-नाट्यकला की आज अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं

है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह पराङ्मुखी बनी हुई है। उसने अन्य नाट्यकलाओं से किया ऋण लिया है?—इसी का लेखा-जोखा हम आलोचना के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वह अन्य देश की नाट्यकलाओं को कुछ दे सकती है अथवा नहीं, और यदि दे सकती है तो क्या दे सकती है?—इसका निर्णय हम अभी नहीं कर सके हैं और तबतक नहीं कर सकेंगे जबतक हम अपने रंगमंच की स्वतंत्र रूप से स्थापना करके अपने नाटकों को उस पर नहीं कस लेते। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि हमारा नाट्य साहित्य हमारी सभ्यता और हमारी संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधि बने तो हमें अपने रंगमंच की स्थापना करनी होगी और शीघ्र करनी होगी।

रंगमंच और चित्रपट

उपर्युक्त पंक्तियों में हम बताचुके हैं कि जब हमारे देश में व्यावसायिक और अव्यावसायिक नाटक मंडलियों की लोकप्रियता बढ़ रही थी तब उनका स्थान चित्रपट ने ले लिया। चित्रपट का भारतीय जन-जीवन में आँधी की तरह प्रवेश हुआ। पहले कुछ दिनों तक अँगरेजी चित्रपटों की धूम रही। इसके पश्चात् जब भारत में भी स्टूडियो खुल गये तब पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक कथानकों के आधार पर निर्मित चित्रपट हमारे सामने आये। उस समय केवल छाया चित्रों द्वारा ही उनका अभिनय हमें देखने को मिलता था। कालान्तर में जब उन्हें वाणी मिली तब उनकी लोकप्रियता और भी बढ़ गयी और उन्हों ने थोड़े ही दिनों में नाटक-मंडलियों का अन्त कर दिया। न व्यावसायिक नाटक मंडलियाँ रह गयीं और न अव्यवसायी। सब-की-सब काल-कवलित हो गयीं। पर उनकी आत्मा का नाश नहीं हुआ। चित्रपटों में उनकी आत्मा ने प्रवेश करके हमारे सामने वैसे ही भद्दे चित्रों को प्रस्तुत करना आरंभ कर दिया जिनके कारण व्यवसायिक नाटक मंडलियाँ—मुख्यतः पारसी कंपनियाँ—बदनाम थीं। आज जब उनके जीवन के लगभग ३०-४० वर्ष बीत चुके हैं और हमारे देश के छोटे-बड़े

नगरों में उनकी स्थापना हो चुकी है तब भी उनके-द्वारा यदाकदा ही स्वस्थ और कलापूर्ण अभिनय हमें देखने को मिलते हैं। इसके दो ही कारण हैं—एक तो यह कि पारसी कंपनियों के स्वामियों की भाँति उनके निर्माताओं का ध्येय केवल पैसा कमाना है और दूसरा यह कि उन्हें साहित्य और कला की आत्मा पहचाननेवाले नाटककारों और कथाकारों का सहयोग प्राप्त नहीं है। ऐसी दशा में जबतक सांस्कृतिक और साहित्यिक आधार पर हमारी सरकार-द्वारा उनका राष्ट्रीयकरण नहीं होता तब तक उनसे सुरुचिपूर्ण अभिनय की आशा करना बालू में से तेल निकालना है।

चित्रपट के संबंध में हमने अभी जोकुछ कहा है उससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि उसकी कोई अपनी विशेषता नहीं है। रंगमंच के इतिहास में चित्रपट का महत्त्वपूर्ण स्थान है। चित्रपट रंगमंच का अमर रूप है। उसने हमारे पात्रों को युग-युग तक जीवित रखने की कला से हमारा परिचय कराया है। उसमें हमारे पात्रों के रंग-रूप, उनकी वेशभूषा, उनके हाव-भाव, उनकी वाणी, उनकी भाव-मुद्राओं और उनकी अभिनय-कला को अमरत्व मिला है। हम उसमें उनकी मृत्यु के पश्चात् भी उनको जीवित रूप में, जब चाहें तब, देख सकते हैं। पात्रों के अतिरिक्त उसमें हमारी जीवन-परिस्थितियाँ भी सुरक्षित रहती हैं जिनसे आनेवाला युग प्रेरणा और स्फूर्ति ग्रहण कर सकता है। उसमें हमारा इतिहास, हमारी सामाजिक व्यवस्था, हमारी रहन-सहन, हमारे रीति-रिवाज, हमारे आमोद-प्रमोद आदि इतिहास को पृष्ठों की भाँति सुलभ रहते हैं। उसमें भूत वर्तमान बनकर हमारे सामने आता है और वर्तमान भविष्य के लिए संदेश-वाहक बन जाता है। इस दृष्टि से रंगमंच का प्रभाव क्षणिक और उसकी सीमा संकुचित ज्ञात होती है।

चित्रपट ने भौगोलिक दूरियों पर भी असाधारण विजय पायी है। सिनेमा-घरों में बैठे हुए हम विश्व के प्रत्येक देश के पर्वत, नदी, वन, उपवन, उपत्यका आदि प्राकृतिक दृश्यों की शोभा देख सकते हैं;

उसके निवासियों की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक जीवन का परिचय प्राप्त कर सकते हैं और समय-समय पर होनेवाली उसकी हलचलों को देख सकते हैं। इस प्रकार उसने सारे विश्व को समेटकर एक छोटे श्वेत चादर पर उतार दिया है। रंगमंच में यह विशेषता नहीं है। उसका सौंदर्य अवास्तविक है, कृत्रिम है। चित्रपट ने रंगमंच के एक और अभाव की पूर्ति की है। रंगमंच पर घोड़े नहीं दौड़ाये जा सकते, मोटरें नहीं चलायी जा सकतीं; वायुयान नहीं उड़ाये जा सकते, कल-कारखानों की व्यस्तता नहीं दिखायी जा सकती, युद्ध के दृश्य नहीं उतारे जा सकते। चित्रपट ने इन सबको हमारे लिए सुलभ कर दिया है। संपन्न देशों में चित्रपट-द्वारा बालकों को शिक्षा भी दी जाती है; जनता में राजनीतिक विचारों का प्रचार भी किया जाता है और यह सब होता है मनोरंजन के रूप में। रंगमंच में स्थल-संकीर्णता है, काल-संकीर्णता है और कार्य-संकीर्णता है; चित्रपट में ऐसी कोई भी संकीर्णता नहीं है। हजारों-लाखों मील की दूरी, जन्म से मृत्यु तक की जीवन-परिस्थितियाँ और घरौंदे के खेल से युद्ध तक के कार्य-व्यापार—ये सब आसानी से चित्रपट पर उतारे जा सकते हैं। विश्व का कोई कक्ष, जीवन का कोई विषय ऐसा नहीं है जिसे चित्रपट ने हमारे लिए सुलभ न किया हो।

चित्रपट में इतनी विशेषताएँ होते हुए भी आज वह प्रेमी और प्रेमिकाओं के अनर्गल प्रलाप में ही पड़ा हुआ है। उससे जनता की उसी रुचि का पोषण हो रहा है जो समाज के नैतिक पतन का कारण और राष्ट्र की उन्नति में बाधक है। उसका कोई लक्ष्य नहीं, कोई उद्देश्य नहीं। उसके भद्दे, अश्लील, और कुरुचिपूर्ण गानों का हमारे बालकों के हृदय और मस्तिष्क पर जो प्रभाव पड़ रहा है वह वर्तमान के लिए घातक तो है ही, भविष्य के लिए भी भयावह है। यदि हमारे चित्रपट-निर्माता, अभिनेता और चित्रपट के लिखनेवाले कथाकार इस ओर ध्यान न देंगे तो वे विज्ञान की इस अभूतपूर्व देन के प्रति अन्याय और अपने

स्वतंत्र राष्ट्र की उठती हुई उमंगों पर कुठाराघात करेंगे। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि धन से बढ़कर राष्ट्र है। यदि राष्ट्र उ ँ गा, यदि उसके निवासी सुरुचिपूर्ण होंगे तो विश्व का सारा धन उनके हाथ में आ जायगा।

आज के हिन्दी नाटककारों पर चरित्र-निर्माण की बड़ी भारी जिम्मेदारी है। उन्हें एक ओर अपने स्वतंत्र देश की राजनैतिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं पर विचार करना है और दूसरी ओर जनता की दूषित मनोवृत्ति का परिष्कार करना है। ऐसी दशा में उनकी लेखनी से ऐसे ही नाटकों का सृजन होना चाहिए जो हमें विश्व के रंगमंच पर ऊँचा उठा सके। भारत के सिनेमा-घर दूषित वातावरण के प्रचार के साधन बन गये हैं। भद्दे गानों और कुरुचिपूर्ण चरित्रों के प्रदर्शन से हमारे बालक-बालिकाओं, युवक और युवतियों को जो प्रोत्साहन मिल रहा है वह हमारी संस्कृति और सभ्यता के सर्वथा प्रतिकूल है। ऐसी दशा में यदि चित्रपट-निर्माता, अभिनेता, और नाटककार सब एक साथ मिलकर ऐसे फिल्मों का निर्माण करें जो इन दोषों का परिमार्जन कर के हमारी नैतिक चेतना को जागरित कर सकें तो समाज और देश दोनों का कल्याण होगा।